वाराणसेय-संस्कृत-संस्थान-ग्रन्थमालायाः
सप्तमपुष्पम्

दायभाग-प्रकाशिका

प्रणेता-डॉ० बदरीनारायणपाण्डेयः

सम्पादिका डॉ० कु० रामेश्वरीकुमारी "रामेश्वरी"

वाराणसेय संस्कृत संस्थान, वाराणसी

वाराणसेय-संस्कृत-संस्थान-ग्रन्थमालायाः
सप्तमपुष्पम्

दायभाग-प्रकाशिका

DĀYABHAGĀ-PRĀKĀSHIKĀ

(आचार्यविज्ञानेश्वर-जीमूतवाहन-मित्रमिश्राणां दायभागसिद्धान्तानां समवेतपरिशीलनसमन्विता)

प्रणेता

डॉ० बदरीनारायण पाण्डेयः

नव्यव्याकरण—प्राचीनराजशास्त्रार्थशास्त्राचार्यः
एम० ए०—संस्कृत, हिन्दी, इतिहास
अन्ताराष्ट्रियविभागाध्यापकः
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः वाराणसी

सम्पादिका

डॉ० कु० रामेश्वराकुमारी 'रामेश्वरी'

धर्मशास्त्र—प्राचीनराजशास्त्रार्थशास्त्राचार्या
एम० ए०, बी०एड्०, साहित्यरत्न
अध्यापिका, प्राचीनराजशास्त्र एवं अर्थशास्त्रविभागस्य
सम्पूर्णानन्द - संस्कृत - विश्वविद्यालयः वाराणसी

वाराणसेय-संस्कृत-संस्थानम्

सी० २७/५४ ए, जगतगंज
वाराणसी—२२१००१
विक्रम संवत् २०४१ : सन् १९८४

प्रकाशक :
वाराणसेय-संस्कृत-संस्थानम्
सी० २७/६४ ए, जगतगंज, (ईलाहाबाद बैंक के सामने)
वाराणसी–२२१००२

प्रथमसंस्करणम् : ११००
वि० सं० २०४१
सन् १९८४

मूल्य :

मुद्रक :
आनन्दकानन प्रेस
सीके० ३६/२० ढुण्ढिराज
वाराणसी—१
फोन : ६२६८३

FOREWORD

I have gcne through the book "Dayabhaga Prakashika" a comparative study in the division of paternal Properitries based on the views of Vijnaneshwara, Jeemutvahana and Mitra Misha completed by Dr. Badari Narayan Pandey Research Officer of Sampoornanand Sanskrit University Varanasi U.p.

In the World of Dharm-Shastra there are many digests on Dayabhaga written by several eminent authors, most famous amongst them being. 1. Vijnaneshwara 2. Jeemut-Vahana and 3. Mitra Mishra. In this compilation Dr. Pandey has attempted a comparative study of their views Putting special emphasis on thier controvestial view points on different types of topics.

Dr. Pandey's tireless effort in the comparative study of these authors is mainly of great use to the student of Acharya and research scholars. The language of this book and point to point explanations of the subject matter makes this book extremely usefull.

I am extremely happy by great effort put by Dr. Pandey in this single new Direction. Which is specially useful for the students of Dharmshastra, and Ancient politics & econeomics to understand these conventional laws. I recomend this book for correct under standing and study in this particular field.

I further convey my heartfelt good wishes to Dr. Miss Rameshwarikumari "Raseshwari" for her great effort and

tireless initiative in this direction. Her edition and Pablication of this book will be of great use to the students of Religion, law, and Ancient Politics.

I wish both the writer and editor great success in this offort.

Varanasi
Mareh 1984

Dr. Gorinath Shastri
Chancellor
Sampoornanand Sanskrit University
Varanasi

प्रोफेसर पं० बदरीनाथ शुक्ल
भूतपूर्व कुलपति
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय, वाराणसी

दायभाग की रचना धार्मिक और राष्ट्रिय उपयोग के लिए धन के प्रयोग के अभाव की सूचना है। महाभारत के आपद्धर्म पर्व के १६५ वें अध्याय के १०२ श्लोक में कहा गया है।

"अदातृभ्यो हरेद्वित्तं विख्याप्य नृपतिः सदा।
तथैवाचरतो धर्मो नृपतेः स्याद् यथारिबलः॥"

जो धनवान् व्यक्ति अपनी इच्छा से धन का विभाग न कर केवल संचय में लगे रहते हैं, ऐसे अदाता धनिकों से राजा सत्कार्य के लिए धन ग्रहण कर ले और उसे प्रजा के कल्याण में खर्च करे। धन के उपयोग के लिए अनेक धार्मिक और राष्ट्रिय व्यवस्थायें उपलब्ध थीं। विभाग के बिना धन संचय करनेवाला व्यक्ति कदर्य कहा जाता है।

'दा दाने' दाधातु से भाव में घञ् प्रत्यय से निष्पन्न दायशब्द दायभाग इत्यादि के विवेचन के आधार पर रूढ़ हो गया है। इस प्रसङ्ग में स्मृतियों में विशेष विचार उपलब्ध हैं तथा वीरमित्रोदय में जीमूतवाहन के दायभाग के सिद्धान्तों की आलोचना की गई हैं।

याज्ञवल्क्यस्मृति की दो प्राचीन टीकाएँ उपलब्ध हैं। एक विश्वरूपाचार्य कृत 'बालक्रीड़ा' एवं दूसरी विज्ञानेश्वर कृत मिताक्षरा। विज्ञानेश्वर ने अतिशय श्रद्धा के साथ विश्वरूप की विकट उक्ति को अपनी टीका का मूलाधार माना है। विश्वरूप के मीमांसाशास्त्र की प्रौढता प्रसिद्ध है, क्योंकि वृहदारण्यभाष्य के वार्तिककार सुरेश्वराचार्य आचार्य शङ्कर से पराजित ही विश्वरूप थे। किन्तु खेद है कि इनके पाण्डित्य और मर्मज्ञता को संस्कृत जगत् बालक्रीड़ा की अंशतः उपलब्धि के कारण भूल सा गया है। आज भी वे स्मार्त सम्प्रदाय, दक्षिणापथ में अद्वैत सम्प्रदाय के रूप में परिचित है। अद्वैत मतानुयायी नियमित रूप से स्मृति सिद्धान्तों को व्यवहार क्षेत्र में आज भी अनुष्ठित करते हैं। विज्ञानेश्वर दक्षिणापथ में चालुक्यवंशीय हैदराबाद के अन्तर्गत कल्याणपुर में नवम शतक के विक्रमादित्य

का समकालीन था अतः, राष्ट्र को धार्मिक व्यवस्था की दृष्टि से इन्होंने सामयिक समन्वयात्मक व्याख्या के द्वारा अनेक समाधानों को प्रस्तुत किया है।

बङ्गाल में रघुनन्दन का स्मृति-निबन्ध प्रतिष्ठित था। जीमूतवाहन का दायभाग दाय की दृष्टि से एक संग्रह ग्रन्थ के रूप में वहाँ मान्य था।

इस प्रसङ्गमें यह कहना आवश्यक है कि दायभाग की परम्परा वैदिक मन्त्रों से भी परिपुष्ट है। सूत्र रूप में निर्दिष्ट मन्त्रों की ही व्याख्या स्मृतियों एवं निबन्धकारों के द्वारा संगृहीत है :—

निरुक्त के नैघण्टुक-काण्ड में भगवान् यास्क एक मन्त्र उद्धृत करते हुए दुहिता का भी पिता के धन में पुत्र के समान ही अधिकार है, इसका विचार करते है। पैत्रिक धन में पुत्र के समान ही पुत्री का भी अधिकार है—"तदेतद् ऋक्श्लोकाभ्यामभ्युक्तम्"।

अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मावै पुत्रनामासि सजीव शरदः शतम्॥ (कौ० उ० २।११)

इस मन्त्र से पुत्री का अधिकार ऋक् संहिता में कहा गया है। इसका विस्तृत व्याख्यान यास्क ने किया है। इस ग्रन्थ में भी इसकी चर्चा है।

अतः दायभाग के अनुसन्धान की दृष्टि से मात्र जीमूतवाहन के संग्रह के आधार पर विवेचन से ही श्रुति श्री नहीं होती है वरन् इस परिप्रेक्ष्य में संहिता के मन्त्रों एवं ब्राह्मण ग्रन्थों का उद्धरण देकर इस विषय का साङ्गोपाङ्ग विश्लेषण अभी भी शेष है जिसका विवेचन दूसरे संस्करण में ग्रन्थकार को करना चाहिए। मुझे विश्वास है कि इस दिशा में प्राचीन राजशास्त्र तथा धर्मशास्त्र के विषयों का वैदिककाल से ही विवेचन प्रस्तुत कर इस श्रृंखला क्रम का अक्षुण्ण प्रवाह चलता रहेगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ की सम्पादिका सुश्री डॉ० रामेश्वरीकुमारी "रासेश्वरी" ने जो सोत्साह श्रम उठाया है, तदर्थ उन्हें आशीर्वाद एवं धन्यवाद देने में मुझे परम प्रसन्नता है। मैं यह चाहूँगा कि श्रीरासेश्वरी का वाक्-विलास अनुदिन बढ़ता रहे।

वसन्तनवरात्र
सम्वत् २०४१
सन् १९८४

—बदरीनाथ शुक्ल
भूतपूर्व कुलपति

श्री पं० रामगोविन्द शुक्लः
धर्मशास्त्रविभागाध्यक्षः
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये
वाराणस्याम् ।

अयं महतः प्रमोदस्य विषयः यत् दायभागस्य जीमूतवाहनकृतस्य विज्ञानेश्वर-कृतस्य मित्रमिश्रकृतस्य च समीक्षा "दायभाग—प्रकाशिका" सम्पूर्णानन्द-संस्कृतविश्वविद्यालस्य अध्यापकेषु अन्यतमेन डॉ० बदरीनारायण पाण्डेयेन महतापरिश्रमेण निर्मिता। वैदिकधर्मे श्रद्धावतां हिन्दूपदव्यवहार्यमाणामार्याणां तत्सङ्कीर्णजातिषु वोत्पन्नानां धर्मशास्त्राणि आदरस्थानानि। अत्र पठितः धर्मशब्दः न केवलमाचारशास्त्रे रूढः किन्तु आचारे, व्यवहारे, प्रायश्चिते च वर्तते। आचारे-धार्मिकैः किं, केन, कथं वर्तितव्यमिति शास्त्राणि उपदिशन्ति, व्यवहारे-समाजेन सह धार्मिकः किं, केन, कथं, व्यवहरेत् व्यवहारोपप्लवे राजा किं कुर्यात् इत्यादिकं विचारितं वर्तते। प्रायश्चित्ते च ज्ञानादज्ञानाद् वा आचारत्यागे, व्यवहारोपप्लवे च जनितस्य पातित्यस्य शोधनायोपायाः निर्दिष्टाः सन्ति।

अत्रग्रन्थे न धर्मशास्त्रस्य सर्वेष्वङ्गेष्वस्ति विचारः किन्तु व्यवहारशास्त्रीयमुत्त-राधिकारमधिकृत्य निर्णयः कृतो वर्तते। उत्तराधिकारसम्बन्धे उत्तरभारते पक्षत्रयं प्रचलति। एकः पक्षः याज्ञवल्क्यमृतौ मिताक्षरामनुसृत्य, द्वितीयः पक्षः जीमूत-वाहनकृत दायभागमनुसृत्य, तृतीयः पक्षः वीरमित्रोदयमनुसृत्य, अद्यापिभारतीय-संविधाने सर्वेषां पक्षाणां संशोधनानि जातानि तथापि अत्र ग्रन्थे छात्राणां हिताय सुखबोधाय चाध्येतॄणां रिक्थदायसिद्धान्तानां सावहितेन मनसा संग्रहः कृतो वर्तते। अयं दायभाग-प्रकाशिका-ग्रन्थः दायसम्बन्धे विपुलं ज्ञानवर्द्धकं छात्राणां च महते उपकाराय भविष्यतीति मे दृढो विश्वासः।

अहमस्य प्रयत्नस्य साफल्यं हृदयेन कामयमानः अस्य स्वस्थतां चिरायुष्टं च कामये।

वसन्तनवरात्रम्
२०४१ वैक्रमे।

रामगोविन्द शुक्लः

प्राक्कथन

प्राचीन भारतीय विधि परम्परा में उत्तराधिकार-नियम प्रवर्तन के मुख्यतः तीन स्कूल सामने दिखायी पड़ते हैं। इनके अन्तर्गत याज्ञवल्क्यस्मृति के मिताक्षराटीकाकार आचार्य विज्ञानेश्वर, दायभाग के प्रणेता आचार्य जीमूतवाहन और वीरमित्रोदय के रचयिता आचार्य मित्रमिश्र प्रमुख थे। इस उत्तराधिकार की विधि व्यवस्था में आधुनिक हिन्दू विधि व्यवहृत होती रही है, जो उत्तर भारत में आचार्य विज्ञानेश्वर से सम्बन्धित, बङ्गाल में आचार्य जीमूतवाहन से प्रत्यायित तथा मध्यभारत में आचार्य मित्रमिश्र से प्रवर्तित देखी जाती है। आधुनिक-विधि के अन्तर्गत संज्ञात उत्तराधिकार ही, पौरस्त्यकाल में "दाय" पद से अभिव्यक्त होता था। जिसका अन्तर्भाव हिन्दू विधि के अन्तर्गत निहित हैं।

दायपद की व्युत्पत्ति "दीयत इति दायः" किया है। दूसरी व्युत्पत्ति "ददाति यमिति दायः" अनुमान्य हैं, परन्तु इस व्युत्पत्ति का प्रयोग गौण माना जाता है। उपर्युक्त व्युत्पत्तियों से दायपद का तात्पर्य "पिता के मरने के बाद पिता के स्वत्त्वाधिकार का निवर्तन और पुत्र आदि के स्वत्त्वाधिकार के प्रवर्तन से है"। स्वत्त्वाधिकार का प्रवर्तन वंशानुक्रम से गृहीत किया जाता है, जिसके अन्तर्गत पूर्वस्वामी का सम्बन्ध समाप्त नहीं होता अपितु मरने पर उसके द्रव्य में उसका जो स्वत्त्व होता है, उस स्वत्त्व का आवर्तन परम्परया वंशानुक्रम से उत्पन्न पुत्र में उत्पन्न होता है। ततः दायपद निरुढार्थ का अवबोधक बनता है, यह कथन जीमूतवाहन को अभिप्रेत है।

आचार्य विज्ञानेश्वर ने दायपद से धन आदि का परिग्रह किया है और यह निर्दिष्ट किया है कि पिता प्रभृति का धन ही स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध से आत्मजन्य पुत्र आदि का अपना हो जाता है।

आचार्य मित्रमिश्र ने आचार्य जीमूतवाहन के निर्दिष्ट दायपद को यथोचित नहीं माना है। उनका कहना है कि यदि स्वत्त्व को निरूढ़ मानेंगे तो दाय और ददाति पदों के गौण होने की अनर्थकता होगी, क्योंकि निरूढार्थ अवयव राहित्य में ही होता है। यदि उसे योगरूढ़ माना जाय तो अवयव-अर्थ का स्वयं बाध हो जाता है। अतएव स्व-स्वामिसम्बन्धमात्र से जिस द्रव्य में स्वत्त्व हो, वह दाय कहा जायेगा।

विभक्त होनेवाला पिता का धन ही दाय है, इस अनुक्रम में दाय शब्द रूढ़ है, ऐसा निघण्टु प्रतिपादित करता है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि विज्ञानेश्वर और मित्रमिश्र दायपद को रूढ़ मानते हैं तथा जीमूतवाहन उसे गौण! तदनुसार भावव्युत्पत्ति पक्ष में दायपद का अर्थ "दानं दायः" और कर्मव्युत्पत्ति पक्ष में "दीयते असाविति दायः" पर्यवसित होता है। इन सिद्धान्तों के अन्तराल में विज्ञानेश्वर, पुत्र का जन्म से पिता की सम्पत्ति पर स्वत्त्व मानते हैं किन्तु सम्पत्ति के यथेच्छा विनियोग का अधिकार पुत्र को पिता के मरने के पश्चात् ही मिलता है। जीमूतवाहन पिता की मृत्यु के बाद ही पुत्र को सम्पत्ति का स्वत्त्वाधिकारी मानते हैं। यहाँ आचार्य मित्रमिश्र आचार्य विज्ञानेश्वर के मत से सहमत हैं।

पिता की सम्पत्ति पर सामान्यतः पुत्र का जन्म से स्वत्त्वाधिकार होता है। इस अधिकार को पुत्रों में विभक्त करने की प्रक्रिया को दायविभाग कहा जाता है। आचार्य विज्ञानेश्वर ने द्रव्य समुदाय विषयों का द्रव्य विशेष में व्यवस्थापन करने की विधि को ही विभाग कहा है।[1] आचार्य जीमूतवाहन ने स्वत्त्वाधिकार के विशेष प्रकार के विभाजन को विभाग बताया है। आचार्य मनु और नारद ने भी इस विभाग परम्परा का विवेचन प्रस्तुत किया है।[2] इसी क्रम में नारद ने माता आदि के धन का विभाग भी संज्ञात किया है, जो विभक्तावयवत्त्व और संयुक्तावयवत्त्व से दो प्रकार का है। आचार्य मित्रमिश्र इस विभाग क्रम में विज्ञानेश्वर का आश्रय लेते हैं।[3] तदनुसार पिता की मृत्यु के पश्चात् ही पिता के धन का विभाग पुत्रों में किये जाने का निर्देश मिलता है। भेद इतना ही है कि विज्ञानेश्वर जन्म से स्वत्त्वाधिकार स्वीकार करते हैं और यथेच्छा विनियोग पिता की मृत्यु के पश्चात् निर्दिष्ट करते हैं। इस क्रम में इच्छा विनियोग के अभाव में स्वत्त्वोत्पादन का विनाश सम्भव हो सकता है। अतएव इसे अनुपयुक्त बताते हुए आचार्य जीमूतवाहन ने स्वत्त्वागम को पिता के मरने के पश्चात् ही पुत्रों में होना प्रतिपादित किया है।[4]

---

१. यज्जन्मना पुत्रस्य पितृधने स्वत्वं सामान्यं भवति, तस्य स्वत्वस्य पितुरादाय पुत्रेषु येन क्रमेण व्यवस्थापनं स विधिर्विभाग इति भावः। दायभागप्रकाशिका—पृष्ठ २

२. मनुस्मृति—९.१०३

३. द्रव्यसमुदायानामनेकस्वाम्यानां तदेकदेशेषु व्यवस्थापनं विभागो नाम। मिताक्षरा पृष्ठ—२६५

४. स्वामिनः स्वत्वापगमे पुत्रादीनां स्वत्वं जायते। दायभागप्रकाशिका—पृ० ३

विभाग-व्यवस्था के इन दो पक्षों को सामने आने से यह बात विचारणीय हो जाती है कि स्वत्त्व जन्म से माना जाय अथवा मूल स्वामी (पिता) की मृत्यु के पश्चात् । यहाँ विज्ञानेश्वर ने पुत्र की उत्पत्ति मात्र से स्वत्त्वाधिकार की प्राप्ति स्वीकार किया है । गौतम ने स्वत्त्व को लौकिक बताया है, अतएव जन्म से उसकी अवाप्ति निर्दिष्ट प्रतीत होती है । याज्ञवल्क्य के अनुसार मणिमुक्ता आदि चराचर सम्पत्ति में पिता के अधिकार का उत्तरोत्तर अन्तरण पुत्र आदि में सन्निहित होता है, तदनुसार जन्म से ही स्वत्त्वाधिकार में यह अवरोधक युक्ति बतायी गयी है कि जन्म से अधिकार मिलने पर भी सम्पत्ति के यथेच्छ विनियोग का स्वातन्त्र्य पिता के जीवन-काल में पुत्र को नहीं मिलता है । वह इस अधिकार से केवल धर्मकार्य, कुटुम्ब-सम्भरण, यज्ञ आदि आवश्यक कार्य, प्रत्यवाय और आपात्काल में प्रयुक्त कार्यों के निमित्त ही व्यय का अधिकारी होगा । जीमूतवाहन ने स्वत्त्व का अधिकार जन्म से नहीं माना है । उनका कहना है कि मूलस्वामी के उपरम होने पर ही स्वत्त्व की जागृति होती है । इसी अनुक्रम में उपरम तथा संन्यास ग्रहण आदि से भी उत्तराधिकारी का स्वत्त्व-सम्बन्ध उपात्त हो उठता है । अतएव पिता के मरने या संन्यास ग्रहण करने आदि कारण होने पर अङ्गज (पुत्र) का हेतुभूतोत्पत्तिमात्र से अथवा दत्तक-ग्रहण आदि से पिता के धन पर पुत्र आदि का अधिकार हो जाता है और पिता के धन को पाने का एकमात्र पुत्र अधिकारी होता है, अन्य सम्बन्धि-जन नहीं ।

पुत्र जन्म लेते ही पिता द्वारा पाला-पोसा जाता है । पुत्रों के संस्कार इत्यादि भी पिता अथवा बन्धु जन करते हैं । इसलिए धार्मिक कार्यों, पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा आदि के व्यय में पुत्रों की अनुमति अपेक्षित नहीं होती है । ऐसी परिस्थिति में जन्म से स्वत्त्वाधिकार मानने पर यह परम्परा सम्भव नहीं हो सकती है । "ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्चेति" मनु का भी सिद्धान्त है । इस अवधारणा में जीमूतवाहन का तात्पर्य, जन्म से स्वत्त्व के निराकरण का नहीं जान पड़ता अपितु पिता के जीवन-काल में पुत्र के धन व्यय के अधिकार का ही निवर्तन करता है । "भर्त्रा प्रीतेन यद्दत्तम्" इस वचन के अनुसार भर्त्ता से लब्ध धन का अधिकार पत्नी को ही प्राप्त होता है, ऐसे धन के निर्वतन या प्रवर्तन में पुत्रों की अनुमति, सम्मति सम्बन्धित विचारों का अवलोकन करके निबन्धकारों ने जन्म से स्वत्त्वाधिकार का मूल्याङ्कन किया है ।

स्वत्त्व शास्त्रसमधिगम्य है अथवा लोकसिद्ध; इस समन्वय में आचार्य जीमूत-वाहन ने स्वत्त्व शास्त्रैकसमधिगम्य (शास्त्रसिद्ध) माना है । गौतम का कहना

है कि रिक्थ-क्रय-संविभाग, परिग्रह, आधि, आगम द्रव्यों में ब्राह्मण का आधिक, क्षत्रिय का विजित, वैश्य और शूद्र का निर्विष्ट धन पर स्वत्त्व होता है। पिता के धन पर पुत्र का अधिकार अप्रतिबन्धकदाय है, वही रिक्थ (इनहेरिटेन्स) कहा जाता है। क्रय का तात्पर्य समुचित मूल्य देकर द्रव्य प्राप्त करने से है। सप्रतिबन्धक दाय के विभाग से द्रव्य विशेष में स्वत्त्व-निर्देश संविभाग कहा जाता है। वस्तु का परिग्रहण परिग्रह है। स्वामी के नष्ट हो जाने पर उसकी निधि को अवाप्त करना अधिगम कहा जाता है। उपरोक्त पाँचों अवधारणाए ब्राह्मण-क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों के सामान्य स्वत्त्व में कारण हैं।

ब्राह्मण सत्प्रतिग्रह से जो धन उगाहता है, वह आधिक धन है। धर्मयुद्ध में क्षत्रिय द्वारा विजय-लब्ध-धन उसके लिए आधिक है। वैश्य इसे कृषि-वाणिज्य-व्यापार आदि विधियों से उपार्जित करता है। शूद्र दासवृत्ति और भृत्ति से इसका सञ्चय करता है। इन शास्त्रसम्मत व्यवस्थाओं से आधिगम-धन शास्त्रैकसमधिगम्य (शास्त्रसिद्ध) है। यदि स्वत्त्व को शास्त्रीय न माना जाय तो याग-याजन-अध्यापन आदि वैध कर्मों से अर्जित धन में भी स्वत्त्व नहीं होगा। द्रव्य देने वाले का भी चोरी के धन में स्वत्त्व नहीं होता, अतएव ऐसे धन के परिग्रह कर्त्ता को भी स्वत्त्व नहीं मिलेगा। यहाँ इस क्रम में प्रत्यवाय होगा।

स्वत्त्व के लौकिक पक्ष में, यह मेरा धन है; इसको इसने चुराया है, यह कोई नहीं कह सकेगा और वह चोरी का धन चोर का ही होगा। अतः स्वत्त्व शास्त्रसिद्ध है, ऐसा मत धारेश्वर आदि ने निर्दिष्ट किया है, जिससे जीमूतवाहन सहमत हैं।

आचार्य विज्ञानेश्वर-मित्रमिश्र प्रभृति ने इनकी राय को अस्वीकार किया हैं। उनके अभिप्राय से स्वत्त्व लौकिक क्रिया का साधन है, अतएव वह लोकसिद्ध है। अदृष्टशास्त्रव्यवहार वाले प्रत्यन्तवासियों के लिए क्रय-विक्रय आदि स्वत्त्व व्यवहारों में लौकिकता ही देखी जाती है, इससे भी स्वत्त्व की सत्ता लोकसिद्ध हो जान पड़ती हैं। ऋतुसिद्धि के लिए नियमानुकूल उपार्जित द्रव्यों से क्रतु की सिद्धि होती है, वहाँ अर्जितकर्त्ता के नियम अतिक्रम से स्वत्त्व की लौकिकता में दोष उत्पन्न होता है, यह मीमांसकों का सिद्धान्त है। इसलिए चोर का चोरी के धन में स्वत्त्व नहीं होता है। लोक में भी स्वत्त्व अभाव के कारण चोरी के धन पर चोर का स्वत्त्व नहीं माना जाता है। एतदर्थ स्तेय आदि धन में लोकसिद्धता नहीं होती, ऐसा सभी आचार्यों का निर्देश है। आधुनिक विधि मान्यताओं (इण्डियन

पेनल कोड) के अनुसार चोरी को अपराध मानते हैं और कानून इस अपराध कर्म के लिए दण्ड विधान निर्दिष्ट करता है। वस्तुतः लौकिसिद्ध स्वत्त्व नित्य-नियत उपाय कार्यों का साधन है जिसमें क्रय-विक्रय आदि व्यवहार दृष्टिगोचर हैं। एतदर्थ मनु-बृहस्पति-गौतम आदि ने भी स्वत्त्व की लौकिकता को स्वीकार किया है। स्वत्त्व शास्त्रसिद्ध है या लोकसिद्ध, इन दोनों पक्षों से स्वत्त्व की सत्ता प्रतिपादित होती है जिससे स्वत्त्व का यह सिद्धान्त निर्णीत होता है। यदि स्वत्त्व है तो उसका विभाजन होना चाहिए, यह पक्ष उचित प्रतीत होता है।

विभाग से स्वत्त्व उत्पन्न होता है अथवा स्वत्त्व का स्वयं विभाजन होता है, इस दिशा में आचार्य जीमूतवाहन विभाग से स्वत्त्व की कल्पना करते हैं। पुत्र पिता के धन का विभाजन करे, इससे यह स्पष्ट है कि विभाग से पूर्व पुत्रों का स्वत्त्व नहीं प्राप्त होता है। विज्ञानेश्वर-मित्रमिश्र प्रभृति कहते हैं कि स्वत्त्व होने पर विभाग होना ही है। यदि स्वत्त्व नहीं होगा तो स्वत्त्वाधिकार कहाँ से उत्पन्न होगा। अतः स्वत्त्व होने पर विभाग होना स्वाभाविक हो जाता है। यदि विभाग से स्वत्त्व माना जाय तो चोर का भी स्वत्त्वाधिकार चोरी की गई वस्तु के विभाग होने पर न्याय-सङ्गत होगा। अतः विभाग से स्वत्त्वाधिकार उचित नहीं जान पड़ता है अस्तु स्वत्त्व होने पर विभाग होना ही है, यही औचित्य शास्त्र प्रतिपादित है।

"ऊर्ध्वं पितुः पुत्राः रिक्थं विभजेरन्" गौतम के इस वचन के अनुसार पिता के मरने पर पिता की सम्पत्ति में पुत्रों का स्वत्त्वाधिकार विभाग से उत्पन्न होता है। यह विभाग पुत्रों के विभाजन की इच्छा से होता है। मनु की व्यवस्था में पिता के मरने पर ज्येष्ठ पुत्र ही धन का अधिकारी है, अन्य पुत्र नहीं। यह नियम सभी पुत्रों की इच्छा से अनुमान्य होता है। कुल-स्थिति-व्यवस्था में कनिष्ठ पुत्र भी विभाग करा सकता है। परन्तु प्राचीन भारतीय विधि परम्परा में ज्येष्ठता को स्वातन्त्र्य प्राप्त है।

धन का दूसरा विभाग-काल माता के निवृत्त-रजस्का हो जाने पर माना गया है। तीसरी विधि के अनुसार पिता अपनी इच्छा से अपने जीवन-काल में ही पुत्रों के अंश का विभाजन करता है। पिता की मृत्यु, पतितत्त्व और निःस्पृहत्त्व से भी विभाजन का चौथा काल अनुमान्य है। अन्यथा सामान्यतया धन विभाग के तीन ही काल अभिप्रेत हैं। माता के निवृत्तरजस्का का काल पिता की सम्पत्ति के विभाजन में हेतु नहीं है अपितु पितामह-धन के विभाग में ही

हेतु है, यह युक्ति आचार्य विज्ञानेश्वर की है। इस सम्बन्ध में आचार्य जीमूतवाहन ने दो ही कालों में विभाग का अवसर प्रदान किया है जिसके अन्तर्गत पिता के पतित, निस्पृह और मरने पर स्वत्त्वागम का एक काल है। स्वत्त्व होने पर पिता के जीवन-काल में उसकी इच्छा से विभाग का दूसरा काल अभिप्रेत है।

बृहस्पति और गौतम ने पितामह के धन का विभाग पिता की इच्छा से निर्णीत किया है। अतः माता-पिता के न होने पर पितामह के धन का विभाजन किया जाना चाहिए। माता के रजोनिवृत्ति होने पर पिता की इच्छा से पितामह के धन का विभाजन करना, मनु-नारद-गौतम-बोधायन-शङ्ख-लिखित प्रभृति ने विभाग का दूसरा काल निर्दिष्ट किया है। याज्ञवल्क्य के मतानुसार पितामह के धन पर जैसे पिता का अधिकार होता है वैसे ही पिता के मरने पर पुत्रों का अधिकार समझना चाहिए। क्योंकि पार्वण पिण्डदान से दोनों ही उसके उपकारक हैं, अतः इसमें सन्निकर्ष और विप्रकर्ष का कोई भेद नहीं है।

पिता के जीवन काल में पितामह के धन-वन-द्रव्यों का विभाजन उन्हीं की इच्छा से हो सकता है, या होगा। पिता के मरने पर उत्तराधिकार स्वयं उपात्त हो उठता है। यदि विभाग करना पिता नहीं चाहता है तो विभाजन होना सम्भव नहीं हो सकेगा।

पिता के मरने पर भाईयों के अंश का निर्धारण किया गया है। केवल पिता के मरने पर और माता के जीवित रहते धन के स्वामियों में विभाजन नहीं किया जा सकेगा। सहोदर भाईयों में विभाग तभी सम्भव होगा, जब माता-पिता दोनों मर जाय। यद्यपि मनु के मत से कुछ अंशों में पिता के मरने पर विभाग किया जा सकता है परन्तु माता के जीवित रहते, उसके भाग का विभाजन नहीं होगा। माता के मरने पर विभाजन पुनः करना होगा। इस क्रम में कृच्छता का अनुभव करते हुए याज्ञवल्क्य ने दोनों की मृत्यु के पश्चात् ही विभाग निर्दिष्ट किया है। शंखलिखित ने रिक्थ को कुटुम्ब का मूल बतलाया है, अतएव कुटुम्ब के परिवर्द्धन और सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए माता-पिता के उपरम-काल के पश्चात् विभाग का औचित्य प्रतिपादित किया है। मृत्यु के पूर्व रिक्थ अस्वतन्त्र बताया गया है, जिसके कारण उसके बटवारे का स्वातन्त्र्य सम्भव नहीं हो सकता है। इन सिद्धान्तों के पक्ष में व्यास की भी सहमति है। माता-पिता दोनों में से किसी एक के जीवित रहते विभाग धर्म सम्मत नहीं होता। एतदर्थ दोनों के मरने पर ही विभाजन करना धर्म सम्मत (कानून द्वारा निर्दिष्ट) होगा।

बृहस्पति के अनुसार पुत्रों की संख्या-साम्य से विभाग होना चाहिए, किन्तु माता के अंश का विभाजन परित्याज्य होगा। माता के जीवित रहते उसकी इच्छा से विभाजन करना विधिसम्मत निर्दिष्ट है। कात्यायन कहते हैं कि अप्राप्तव्यवहार (नाबालिक) काल तक बालकों के धन की सुरक्षा करनो चाहिए। इस क्रम में उत्पत्ति क्रम से पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र का अधिकार नहीं होता, अपितु सबका समान अधिकार होगा। शङ्ख और लिखित के अनुसार पिता और प्रपितामह दो ही सम्पत्ति के धारक हैं। इसलिए प्र पतामह के निर्देश से पुत्र का क्षेत्राधिकार प्रपौत्र पर्यन्त पर्यवसित होगा। क्योंकि प्रपौत्र द्वारा किया गया श्राद्ध प्रपितामह पर्यन्त पितरों का उपकारक होता है। अत-एव दाय ग्रहण का वैध अधिकार भी इसी क्रम में शिष्टाचार सम्मत मान्य है।

पितामह के धन-वन-सम्पत्ति में पिता का कितना अंश होगा। इस क्रम में पितामह के धन में पिता का दो भाग अनुमान्य है और विभाग उसी की इच्छा से होगा, यह निर्देश आचार्य जीमूतवाहन का है। आचार्य विज्ञानेश्वर और मित्रमिश्र के मतानुसार पितामह की सम्पत्ति में पिता का दो भाग नहीं हैं और न तो पिता की इच्छा, विभाग में नियामिका है। याज्ञवल्क्य के वचन से पिता और पुत्र का समान अधिकार है, जिसके कारण विषम विभाग नहीं हो सकता। इसी क्रम में जीमूतवाहन भी सदृश स्वामित्व होने का निर्देश करते हैं। किन्तु, यदि एक ही पुत्र औरस हो तो, वह दो भागों का अधिकारी होगा और शेष समान अंश के भागीदार होंगे। यदि दो पितावाला क्षेत्रज पुत्र हो तो वह पुत्रों के साथ समान अंश का भागीदार होगा। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत जन्म, विद्या, गुण और ज्येष्ठता के आधार पर दो भाग का उपार्जन किया जाना चाहिए।

आचार्य मित्रमिश्र इस सिद्धान्त का निरसन करते हुए यह राद्धान्त उप-कल्पित करते हैं कि—पुत्र और पौत्र का अंश पितामह के धन में समान रूप से होता है। इसलिए पिता का पितामह की सम्पत्ति में दो भाग नहीं हो सकता है। आचार्य मनु ने मिताक्षराकार विज्ञानेश्वर के इस मत का खण्डन किया है कि पुत्रों का विभाजन में स्वातन्त्र्य नहीं है। इसीलिए पितामह के धन में पिता को दो भाग और विभाग भी उसी की इच्छा से होगा, विभाजन में पुत्र की इच्छा अनुमान्य नहीं है। यदि पिता की अनिच्छा रहते पुत्र विभाग की प्रार्थना करते हैं तो पिता उसमें विषम विभाग नहीं कर सकता है। मनु की यह धारणा है कि पिता अपने जीवन-काल में विभाग स्वेच्छा से करेगा। यदि वह विभाग

नहीं करता है तो कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि पिता की मृत्यु होने पर स्वत्त्व स्वयं उत्पन्न हो जाता है जो विभाग में नियामक है।

पिता के मरने पर भाईयों में दाय (सम्पत्ति) का विभाग किया जाता है, किन्तु माता जीवित हो तो विभाग करना उचित नहीं होगा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि विभाजन कार्य पिता और माता दोनों की मृत्यु के पश्चात् किया जाय। मनु ने माता के जीवित रहने की स्थिति में उसके भाग का निर्धारण कर अन्य हिस्सों के विभाजन की अनुज्ञा प्रदान किया है। विज्ञानेश्वर और याज्ञवल्क्य ने हर परिस्थितियों में विभाजन माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् करने का आदेश दिया है। शंख और लिखित ने रिक्थ का अधिकारी कुटुम्ब को निर्दिष्ट किया है, किन्तु पिता-माता के जीवित अधिकार को भी अनुमान्य किया है। व्यास के मतानुसार माता-पिता में से किसी एक के जीवित रहते विभाग करना न्यायोचित नहीं है। बृहस्पति ने पुत्रों की संख्या के अनुसार विभाग का निर्देश किया है और यह भी बताया है कि माता की अनुमति मिलने पर उसके जीवन-काल में ही बटवारा किया जा सकेगा। कात्यायन ने नाबालिकों को सम्पत्ति की सुरक्षा उनके बालिग होने तक करने का निर्देश किया है और बटवारे में पुत्र, पौत्र तथा प्रपौत्र का समान अंश उत्पत्ति क्रम से निर्दिष्ट किया है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि दो भाईयों में एक भाई के कई पुत्र हो और दूसरे को एक ही पुत्र हो तो उन पुत्रों में बटवारा पिता के विभागांश से ही स्वीकार करना न्यास-संगत होगा।

पितामह के धन-वन-द्रव्य में पिता का कितना अंश होगा और बटवारा किसकी इच्छा से किया जायेगा। यहाँ जीमूतवाहन ने इस अनुक्रम में पितामह के धन में पिता का दो अंश निर्धारित किया है और विभाजन पिता की ही इच्छा से अनुमत किया है। विज्ञानेश्वर और मित्रमिश्र पितामह-धन में पिता का दो भाग नहीं मानते हैं तथा विभाग में पिता की इच्छा को भी नियामिका नहीं बताते हैं। इसी क्रम में याज्ञवल्क्य की भी अनुमति है कि पिता-पुत्रों का समान अंश निर्धारित किया जाय। यद्यपि समान स्वामित्व होने पर समान अधिकार की समता में समान अंश का न्यायाधिकार विधिसम्मत है। तथापि जीमूतवाहन के इस सिद्धान्त को बृहस्पति ने इस प्रकार स्फुट किया है कि एक पुत्र होने पर दो विभाग किया जाय। यदि पिता का एक हो पुत्र है तो वह औरस पुत्र होने से दो अंशों को ग्रहण कर सकता है। क्षेत्रज आदि पुत्रों की स्थिति में वह, दो पिता होने की कारण दोनों से समान अंश पाने का अधिकारी होगा। इस प्रकार

दायादों से जन्म, विद्या, गुण और ज्येष्ठता क्रम से वह दो अंशों का धारक होगा। जब क्षेत्रज आदि पुत्र अपने भाई की अपेक्षा ज्येष्ठता क्रम में पिता के दो अंशों को पाता है तो पिता की सम्पत्ति से पुत्र को दो भाग कैसे प्राप्त हो सकेगा। अतएव पितामह-धन में पिता का दो अंश और पुत्रों का एक-एक अंश पाने का अधिकार प्रवृत्त होगा। बृहस्पति के इस कथन के विपरीत मित्रमिश्र, पुत्र और पौत्र का पितामह-धन में समान अंश पाने के सिद्धान्त को ही स्वीकार किया है, इससे पिता के दो अंशों का संकेत उपस्थित नहीं होता है। मित्रमिश्र ने यह भी राद्धान्त निर्धारित किया है कि यदि एक ही पुत्र समग्र गुणों का आश्रय है तो पिता दो अंश स्वयं को निर्धारित करे। यतः वह गुणवान् पुत्र अपने प्रताप से धनार्जन कर जीविका निर्वाह करने में क्षम है तो उसका एक ही अंश पिता लगाये और स्वय उससे दो भाग ग्रहण करे। आचार्य विज्ञानेश्वर इस पक्ष को न्यायोचित नहीं समझते हैं।

इसी क्रम में आगे यह भी अभिधेय उपस्थित होता है कि पुत्र द्वारा अर्जित धन में पिता का अंश होगा या नहीं ? इस पक्ष में आचार्य जीमूतवाहन का कहना है कि पुत्रों से उपार्जित धन में पिता के दो भाग पाने का अधिकार उत्पन्न होता है। कात्यायन का कहना है कि पुत्र द्वारा अर्जित धन में पिता का अधिकार स्वयं उपार्जित धन की भाँति होगा और उससे पिता दो भाग पाने का अधिकारी है। परन्तुक यह भी हैं कि यदि पुत्र के द्रव्य अर्जन में पितृद्रव्य का उपघात होता है तो उससे पिता अर्द्धांश पाने का अधिकारी हो सकेगा। इससे इतर प्रक्रिया से अर्जित धन-वन-सम्पत्ति में उपार्जन कर्त्ता का दो भाग और अन्य भाईयों का एक-एक भाग प्राप्तव्य अश होना चाहिए। अपने पराक्रम से प्राप्त धन में पिता के अधिकार में दो भाग और उपार्जन कर्त्ता का भी दो अंश निर्धारित होगा इस धन में अन्य भाईयों का कोई प्राप्ताधिकार नही उत्पन्न होगा, यही जीमूतवाहन का मुख्य सिद्धान्त है। इसमें विज्ञानेश्वर का कोई अभिमत नहीं है।

सगे (सवर्ण) भाईयों में धन का विभाग किस प्रकार किया, इस विषय में सम और विषम दो प्रकार माने गये हैं। आचार्य विज्ञानेश्वर ने सभी भाईयों में ज्येष्ठ भाई को सम्पूर्ण सम्पत्ति देने का निर्देश दिया है और शेष भाईयों को ज्येष्ठ भाई के निर्देशन में रहने और कार्य करने का प्राविधान बताया है। परन्तुक यह भी उपात्त है कि यदि पिता ज्येष्ठ पुत्र का विशोद्धारादि करके विभाग करता है तो सभी पुत्रों को समान अंश दिया जाना चाहिए। जीमूतवाहन ने प्रत्येक

भाईयों में समान अंश का विभाग माना है। उन्होंने यह स्पष्ट संकेत किया है कि पुत्रों में धन-विभाजन के समय उनकी संख्या के अनुसार दो, तीन या चार भाग किये जायँ। यदि विभाग काल के समय में कोई कुमारी पुत्री हो तो उसको चतुर्थ भाग का अंशधारक बनाया जाय। यदि पिता प्रभूत धनवान् हो तो कुमारी को विवाहोचित धन धारण करने का निर्देश है न कि चतुर्थ भाग ही।

असवर्ण भाईयों के विभाजन में मनु आदि ने ब्राह्मण को चारो वर्णों में, क्षत्रिय को क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में, वैश्य को वैश्य और शूद्र में तथा शूद्र को मात्र अपने सवर्ण में ही विवाह के लिए अनुमोदित किया है। अतएव ब्राह्मण से ब्राह्मणी में उत्पन्न पुत्र चारों भागों का संधारक है, ब्राह्मण से क्षत्रिय-भार्या में उत्पन्न पुत्र तीन अंशों का, ब्राह्मण से वैश्या-भार्या में उत्पन्न दो भागों का और ब्राह्मण से शूद्र-भार्या में उत्पन्न सन्तान मात्र एक अंश का धारण-अधिकार प्राप्त करता है। इसी क्रम के अनुसार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का भी अनुक्रम समझना चाहिए। शूद्र का शूद्रा पुत्रों में धन अंश का विभाग समांश रूप से किया जायेगा। यदि प्रतिग्रहलब्ध भूमि हो तो क्षत्रिय आदि पुत्रों द्वारा नहीं ग्रहण की जा सकती है। परिस्थिति वश पिता स्वयं स्नेह से क्षत्रिय आदि पुत्र को धन देता है तो उसके मरने पर वह सम्पत्ति ब्राह्मण पुत्र ले सकेगा। आचार्य बृहस्पति ने भी इसे अनुमोदित किया है। शूद्रा-भार्या में उत्पन्न द्विजाति का पुत्र भू-भाग में अंशधारक नहीं हो सकता है। देवल भी इन्हीं वचनों का समर्थन करते हैं तथा उसमें यह परन्तुक जोड़ते हैं कि पिता प्रसन्नता से जो कुछ उन्हें देता है, उस प्रसाद-दान को वह ग्रहण कर सकेगा। आचार्य मनु भी इस प्रसाद-दान का समर्थन करते हैं। आचार्य जीमूतवाहन ब्राह्मण से उत्पन्न क्षत्रिय पुत्र को समान अंश धारक घोषित करते हैं और यह क्रम वे तभी स्वीकार करने को तैयार है जब कि क्षत्रिया-पुत्र ब्राह्मण पुत्र के समान गुणवान् तथा ज्येष्ठ हो। उसी प्रकार क्षत्रिय से वैश्या में उत्पन्न वैश्या-पुत्र भी क्षत्रिय के समान तुल्यांश धारक-अधिकारी होगा। इसी क्रम को वैश्या और शूद्रा के प्रजनन क्रम को अनुमान्य किया जायेगा। मनु के सिद्धान्त से द्विजाति-पुत्र के अभाव में भी शूद्र का दशम अंश होता ही है। शूद्र का अविवाहित शूद्रा-पुत्र पिता की अनुमति से अन्य पुत्रों की भाँति समान अंशधारक होगा। यदि इस क्रम में अनुमति नहीं मिलती है तो वह आधे अंश का धारक हो सकेगा। कुछ परिस्थितियों में वह अपरिणीत पुत्र अकेला है, उसका कोई सहोदर नहीं है तो उसके अभाव में दौहित्र सम्पूर्ण धन का स्वामित्व का प्रापक होगा। इन सन्दर्भों में मित्रमिश्र विज्ञानेश्वर का अनुमोदन करते हैं।

धर्म-विज्ञान द्वादश-पुत्रों का निर्देश करता है, उन द्वादश पुत्रों में औरस पुत्र मुख्य है, अन्य काम—भावना जन्य होने से गौण माने जाते हैं। औरस-पुत्रिका-पुत्र, क्षेत्रज, गूढज, कानीन, पौनर्भव, दत्त, क्रीत, कृत्रिम, स्वयंदत्त, सहोढ़, अपविद्ध ये द्वादश प्रकार के पुत्र बताये गये हैं। इनमें भूमि-धन-वन आदि का विभाग विधिवेत्ताओं के मतानुसार पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट है, किन्तु यह सभी ने स्वीकार किया है कि पिता की सम्पत्ति का मुख्य उत्तराधिकारी औरस पुत्र ही है। अन्य क्षेत्रज आदि औरस के अनुरूप गुणवान् तथा प्रभावशाली होने पर पञ्चमांश या षष्ठांश के अधिकार होते हैं। आचार्य मनु ने द्वादश पुत्रों में से छः पूर्व पुत्रों को दाय-धारक निर्दिष्ट किया है और शेष बाद के छः पुत्रों को मात्र ग्रास, छादन आदि का भागी घोषित किया है। पूर्व के छः पुत्रों में धर्मज होने से औरस का प्राधान्य है उसी क्रम में पुत्रिका पुत्र को भी औरस के समान अंशधारी करार किया गया है। इस प्रकार क्षेत्रज आदि का भी पूर्व-पूर्व के अभाव में चतुर्थांश स्वीकार किया जायेगा। आचार्य विज्ञानेश्वर ने निर्देश दिया है कि औरस पुत्र के होते हुए भी अन्य क्षेत्रज, दत्तक आदि सवर्ण पुत्र चतुर्थांश के धारक होंगे। परन्तु कानीन आदि केवल पालन पोषण के अंशभागी हैं। जामूतवाहन के अनुसार औरस पुत्र के साथ क्षेत्रज आदि के अंश का निर्धारण होना चाहिए। किन्तु इस क्रम में पिता सवर्ण हो तो औरस उत्तम और शेष क्षेत्रज पुत्रिकापुत्र, कानीन, गूढज, उपवृद्धि, सहोढज, पौनर्भव, दत्तक, स्वयमुपागत, कृतक तथा क्रीत पुत्रों का तीसरा अंश होगा। औरस पुत्र के अभाव में उससे भिन्न पुत्र सम्पूर्ण सम्पत्ति का ग्रहण-कर्ता होगा। उपरोक्त में भी, यदि औरस पुत्र हीन-पिता-वर्ण का है तो उनमें उच्च पिता वर्ण की औरस सन्तान ही श्रेष्ठ होंगे तथा ज्येष्ठ के अतिरिक्त अन्य औरस पुत्र सगुण-निर्गुण भेद से पचमांश अथवा षष्ठाँश पाने में सक्षम होंगे। अनियोग से उत्पन्न क्षेत्रज पुत्र जिस (पिता के) वीर्य से उत्पन्न होगा, वह उसी की सम्पत्ति का धारक होगा।

उपरोक्त इन सन्दर्भो में मित्रमिश्र, हारीत के सिद्धान्तों का उदाहरण प्रस्तुत करते है और कहते है कि कानोन और पौनर्भव की गणना बन्धु-दायादों में है, इसलिए मनु आदि के मत से सवर्ण आदि के भेद का परिहार होना उचित है तथा देशाचार के अनुसार इनमें विभेद नहीं करना चाहिए। इस स्थल से अन्यत्र सभी स्थलों पर मित्रमिश्र आचार्य विज्ञानेश्वर के सिद्धान्तों से सहमत हैं।

अप्रजः (निःसन्तान) पुरुषों के धनाधिकारियों में सर्वप्रथम पत्नी का अधिकार उत्पन्न होता है। अप्रजःपुमान् का तात्पर्य ऐसे पुरुष से है जिसको

बारहों प्रकार के पुत्रों में से कोई पुत्र नहीं हो। इस प्रकार के पुरुष के मृत्यु के उपरान्त जिन पारिवारिक सदस्यों का सत्त्वाधिकार होता है, उनकी व्यवस्था यहाँ निर्दिष्ट है। जब एक पुरुष की कई पत्नियाँ हों तो उनमें से ब्राह्म-विधि से विवाहिता का प्रथम अधिकार होता है। अन्य पत्नियाँ को वर्ण के अनुसार स्वाँश मिलता है। आचार्य जीमूतवाहन ने भी प्रथम सवर्ण-विवाहसंस्कृत-पत्नी का अधिकार निर्देशि किया है। विष्णु-कात्यायन-बृहस्पति प्रभृति भी सर्व प्रथम सवर्ण-पत्नी का अधिकार उपात्त करते हैं, यदि सवर्ण-पत्नी न हो तो असवर्णा स्त्री का अधिकार प्रवृत्त होता है। इस क्रम में ब्राह्मण अप्रज:पुमान् के धन का अधिकार प्रथमतः ब्राह्मणी को मिलता है। द्वितीय वरीयता क्षत्रिया भार्या को निर्दिष्ट है।

तृतीय अनुक्रम में वैश्या-पत्नी तथा चतुर्थ में शूद्रा-भार्या के अधिकार प्रवर्तित होते हैं। जीमूतवाहन, मित्रमिश्र के सिद्धान्त से पुत्र पद का तात्पर्य पुत्र आदि में त्रिकाभाव परक है। त्रिकाभावपरक का अभिप्राय पुत्र क्रम से प्रपौत्रपर्यन्त अधिकार का पर्यवसित होना है। अतः इस अनुक्रम में ही स्वत्वाधिकार का समायोजन किया जाता है। पत्नियों में जो शङ्कित व्यभिचारा हैं वह दायांश नहीं पाती हैं उसे मात्र जीविका निमित्त वस्त्र तथा भोजन आदि ही देय बताया गया है। आचार्य विज्ञानेश्वर ने परिणीता-सती-पतिव्रता को सम्पूर्ण पति की सम्पत्ति का अधिकार संज्ञात किया है। उन्होंने यह भी अभिमत व्यक्त किया है कि कर्कशा अथवा यौवनस्था-शङ्कित-व्यभिचारा-पत्नी धन आहरण की अधिकारिणी नहीं होती है। वह उपभोक्ता (भुजिष्यादि) की तरह केवल जीविकोपार्जन का अधिकार पाती है। मित्रमिश्र ने पति के सम्पूर्ण सम्पत्ति का अधिकार धर्मपत्नी को दिया है और यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि पति की सारी सम्पत्ति लेकर भार्या भर्तृकुल में निवास करे अथवा अपनी शरीररक्षा के लिए पितृकुल (मायके) में रहे। उसे अपने स्वामी के उपकार के लिए कुछ भी दान-धर्म इत्यादि धार्मिक कार्य करने का अधिकार होगा।

पत्नी के अभाव में दुहिता (पुत्री) अप्रज:पुमान् का अंश धारण करती है। यदि कई पुत्रियाँ हों तो समानजातीय और असमानजातीय भेद से सम या विषम दाय-अंश दिया जायेगा। अतः सभी दुहिताओं में प्रथम अविवाहिता का अधिकार होता है। यदि अविवाहिता न हो तो विवाहिता धनाधिकारी होगी। विवाहितों में से भी प्रथम अप्रसूता का तथा उसके अभाव में प्रसूता का अधिकार प्रवृत्त होता है। गौतम ने स्त्रीधन का अधिकार अविवाहिता या अप्रतिष्ठिता को पाने

का निर्देश किया है। दुहिताओं के अभाव में दौहित्र धन का अधिकारी अनुमान्य किया गया है। यही क्रम जीमूतवाहन ने भी स्वीकार किया है। आचार्य मित्र-मिश्र सर्वप्रथम कुमारी तत्पश्चात् विवाहिता का, विवाहिताओं में पुत्रवती का, अथवा सम्भावित पुत्रवती का समानरूप से समांश-धन का अधिकार कल्पित करते हैं। उनके मत से बन्ध्या या विधवा दुहितायें धन की अधिकारिणी नहीं है।

दौहित्र के अभाव में माता-पिता धन के अधिकारी होते हैं। पिता की अपेक्षा माता पुत्र की अधिक उपकारी होती है, इसलिए सर्वप्रथम माता का अधिकार होता है। माता के अभाव में उस अधिकार का ग्रहणाधिकार पिता को प्राप्त होता है। विज्ञानेश्वर को इस बात से असहमत जीमूतवाहन पिता को अधिक उपकारक समझते हैं जिससे ये पिता को प्रथम अधिकारी मानते हैं और माता को तत्पश्चात्। मित्रमिश्र का कथन है कि पिता वृत्ति आदि का निष्पादन करता है, एतदर्थ वह धन का पहले अधिकारी होगा तत्पश्चात् माता अधिकारिणी होगी।

पिता के अभाव में भाई धन के अधिकारी होंगे। भाईयों में प्रथम सोदर भाई तदनन्तर भिन्नोदर (सौतेली माँ का पुत्र) धन पाने का अधिकारी होगा। इसके अभाव में सपिण्डज धन के अधिकारी होंगे। यहाँ विज्ञानेश्वर, जीमूतवाहन और मित्रमिश्र एकमत से इस पक्ष का समर्थन करते हैं।

पुत्र के अभाव में भाई का पुत्र धन का अधिकार अर्जित करता है। परन्तु यहाँ ऐसे ही भाई के पुत्र को प्राथमिकता है जो सोदर भाईयों की सन्तानें हों। उनके अभाव में भिन्नोदर भाईयों के पुत्रों का अधिकार प्रवृत्त होगा। किन्तु इनके अभाव में भी विज्ञानेश्वर, जीमूतवाहन और मित्रमिश्र सपिण्ड के अधिकार का प्रवर्तन अनुमान्य करते हैं।

सपिण्ड कौन कहे जायेंगे तथा उनके अंश का निर्धारण कैसे किया जायेगा, इस सन्दर्भ में जीमूतवाहन और मित्रमिश्र का कहना है कि भाई के पुत्रों के अभाव में गोत्रज धनाधिकारी होते हैं। गोत्रज का तात्पर्य पिता के अन्वय से है। उसके अभाव में प्रपितामह के अन्वय सपिण्ड माने जाते हैं। विज्ञानेश्वर सपिण्ड को सप्तपुरुषावधिक मानते हैं। जीमूतवाहन और मित्रमिश्र के मतानुसार सपिण्डता प्रपौत्रपर्यन्त प्रवर्तित होती है, यह विशेष नियम है। गोत्रज होने से प्रपितामही आदि के गोत्राभाव से पितामह और तदनन्तर पितामही सपिण्ड के अधिकारी होंगे, यह मन्तव्य जीमूतवाहन और मित्रमिश्र ने स्वीकार किया

है। यही क्रम विज्ञानेश्वर ने 'सापिण्डं सप्तपुरुषावधिकम्' से स्वीकार किया है। हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम १९५६ के अन्तर्गत भी उत्तराधिकारियों की श्रेणी को सात वंशों तक अनुमान्य किया है। हिन्दू विवाह अधिनियम १९५६ में भी यह बात स्पष्ट रूप से बतायी गयी है कि वैवाहिक सम्बन्धों के निमित्त पूर्ण रक्त और अर्धरक्त सम्बन्धों की संरक्षकता के अन्तर्गत वे ही विवाह में संरक्षक हो सकते हैं। रक्तज और गोत्रज से भिन्न वर और कन्याओं के विवाह का प्रचलन हिन्दू विधि के अनुसार वर्तमान समय में भी मान्य है। इससे भी मिताक्षराकार के इस सप्तपुरुषावधि का तात्पर्य स्पष्ट है और आज भी वही परिगृहीत है। जीमूतवाहन और मित्रमिश्र उत्तराधिकार में प्रपौत्र पर्यन्त को ही अधिकृत वंश में दाय अधिग्रहण के अधिकारी बताते हैं।

हिन्दू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम १९५६ भी मिताक्षरा के इन सिद्धान्तों का अवगमन करता है। अतः स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दू विधियों में सम्प्रति मिताक्षरा यानी विज्ञानेश्वर के सिद्धान्तों का अनुपालन आज भी किया जा रहा है।

सपिण्डों के उपलब्ध न रहने पर बान्धव जनों का अधिकार धन ग्रहण में उपात्त होता है। बान्धव पद की व्यापकता आत्म-बान्धव, पितृ-बान्धव और मातृ-बान्धव तक है। इस क्रम में प्रथम आत्मबान्धव का, तत्पश्चात् पितृबान्धव का, तदनन्तर मातृबान्धवों का, धनाधिकार सम्पत्ति पर उपकल्पित होता है।

बन्धुओं के अभाव में धन का अधिकार आचार्य को मिलता है। आचार्य के अभाव में शिष्य, उसके भी अभाव में सतीर्थ ब्रह्मचारी, सभी के अभाव में ब्राह्मण धन-ग्रहण का अधिकार पातें हैं। मनु ने तो स्पष्ट ही कहा है कि सभी के अभाव में धन ग्रहण करने का अधिकार ब्राह्मण में उद्भूत हो उठता है।[1] इस प्रकार यदि धनाधिकारियों का अभाव होता है तो अन्त में राजा धन ग्रहण का अधिकारी स्वयं होगा, किन्तु यह व्यवस्था ब्राह्मण-धन से भिन्न धन की है। यदि ब्राह्मण का धन है तो वह राजगामी नहीं होगा। अपितु उसका समाहर्त्ता ब्राह्मण ही एकमात्र होगा।

अप्रजःपुरुष का धनाधिकार परिणीता संयता पत्नी पाती है। उसके बाद कन्या, दौहित्र, माता-पिता, सोदर भाई, भिन्नोदर भाई, भाई के पुत्र, पितामह, पितामही, पितृव्य तथा उसके लड़के सात पुरुषों तक के सपिण्ड, आत्म, पितृ

---

१. मनु—९.१८२

तथा मातृबान्धव आचार्य शिष्य और ब्रह्मचारी क्रमशः पायेंगे। अन्त में यदि ब्राह्मण का धन है तो वह ब्राह्मण लेगा, अन्य लोगों का धन राजा धारण करता है।

विभक्त किया हुआ धन जब पुनः मिश्रित कर दिया जाता है तो उसे संसृष्टि-धन कहते हैं। संसृष्टि यदि अनपत्य है तो पत्नी के होते हुए भी धन का अधिकारी वह नहीं होता अपितु उसका भाई होता है, यह विज्ञानेश्वर का कहना है। यदि परिणीता पत्नी है तो वह ही धन ग्रहण कर सकेगी। किन्तु भुजिष्यादि पत्नियाँ धन की अधिकारी नहीं होगीं। संसृष्टिधन में परिणीता स्त्री का भुजिष्यादि के खान-पान आदि की तरह अधिकार नहीं समझा जाता है अपितु वह पूर्णतः स्वत्त्वाधिकारी होती है, यह मत जीमूतवाहन को अभिप्रेत है। यदि पत्नी नहीं है तो सोदर या भिन्नोदर भाई धन का अधिकारी होगा। परन्तु वहाँ संसृष्टि के 'पत्नी का सम्भरण, परिपालन आदि का दायित्व संसृष्टि के धन-ग्रहण-कर्त्ता का समझा जायेगा।

स्त्री स्वामित्ववाले धन को स्त्रीधन कहा जाता है। अध्यग्नि अध्यवाहनिक प्रीतिप्रदत्त, भाई-माता-पिता द्वारा उपात्त धन स्त्रीधन से संज्ञात होता है। यहाँ पर स्त्रीधन के छः भेदों का निर्देश न्यून सख्या पर्युदास के निमित्त है, व्यवच्छेद के लिए नहीं। अतएव इन छः भेदों के अतिरिक्त अन्वाधेय और आधिवेदनिक आदि अवस्थाओं में प्राप्त किया गया धन भी, स्त्रीधन से पारिभाषित होगा। स्त्रीधन स्त्री का स्वतः अर्जित धन कहा गया है, इस धन पर स्त्री का पूर्ण स्वामित्व होता है। जीमूतवाहन ने स्त्रीधन को पारिभाषिक कहा है, पर मित्रमिश्र ने इसे यौगिक माना है। इस कारण शिल्पादि कर्त्तव्यों द्वारा अर्जित धन भी स्त्रीधन की कोटि में परिगृहीत किया जायेगा।

स्त्रीधन के विभाग क्रम में सर्व प्रथम दुहिता का अधिकार प्रवर्तित होता है। दुहिताओं में भी पहले अविवाहिता का अधिकार, अविवाहिता के अभाव में विवाहिता का, विवाहिताओं में अपुत्रवती निर्धन का, उसके अभाव में पुत्रवती सधवा का अधिकार विज्ञानेश्वर के अनुसार प्रवृत्त होता है। दुहिता के अभाव में दौहितृ का उसके अभाव में दौहित्र का अधिकार उत्पन्न होता है। मनु और जीमूतवाहन के मतानुसार माता के धन का विभाजन सहोदर भाई और बहनों में समान होना चाहिए। माता जो धन विवाह काल में पाती है उस धन में कुमारी का ही अधिकार प्रथम प्रवृत्त होता है। कुमारी के अभाव में विवाहिता पुत्री उत्तराधिकार पाती है। अन्वाधेय, प्रीतिपूर्वक पतिप्रदत्त-धनों में पुत्र,

कन्या, अविवाहिता दुहिता का समान अधिकार होता है। किन्तु यौतक लब्ध धन पाने का अधिकार मात्र कुमारी का ही होगा, अन्य का नहीं। इससे भिन्न धन पाने का अधिकार दुहिता, दौहित्री, दौहित्र तथा पुत्रों का होता है।

अनपत्य (विनापुत्र/पुत्री) के मरने पर मृत स्त्री का धन पाने का अधिकार बन्धुओं को होता है। ब्राह्मण आदि चारों वर्णो में विवाहिता के धन प्राप्त करने वालों में प्रथम भर्त्ता का स्वामित्व होगा। यदि वह नहीं है यानो मर चुका है तो नजदोकी सपिण्ड का अधिकार उत्पन्न होता है। असुर गान्धर्व आदि विवाहों में अप्रजः स्त्री धन का आहरण पितृगामी होता है। इनके अभाव में नजदीकी सपिण्ड का स्वत्त्वाधिकार होता है, ऐसा विज्ञानेश्वर का मत हैं। पर जीमूतवाहन आदि के मत से ब्राह्म-विवाह से लेकर गान्धर्व-विवाह पर्यन्त अप्रजः स्त्री के धन का अधिकारी पति होता है। उसके न होने पर देवर और देवर के न होने पर भर्त्तृपिण्ड तथा भर्त्तृदेयसप्तपुरुषावधिक सपिण्ड का उत्तराधिकार उत्पन्न होता है। इनके भी न होने पर भाई के पुत्र, बहन के पुत्र धन संग्रहण का अधिकार पाते हैं।

मित्रमिश्र के मत से रजोनिवृत्त होने पर अप्रजः स्त्री के धन का उत्तराधिकार बान्धवों को मिलता है। याज्ञवल्क्य के मतानुसार ब्राह्म आदि चार प्रकारों से विवाहिता अप्रजः स्त्री का धन ग्रहण करने का अधिकार पति पाता है। आसुर आदि तीन प्रकार से विवाहिता का धन पितृगामी अनुमान्य है। कात्यायन ने विवाह लब्ध या बन्धु प्रदत्त धन के उत्तराधिकारी रूप में पति को धन ग्रहण का अधिकार नियत किया है।

धन का विभाजन हो जाने पर भी अंश-धारियों के स्वाशों का विभाग पुनः करने का निर्देश मिलता हैं। यथा-विभाग काल में कोई गर्भस्थ शिशु है पर उसकी उपेक्षा करके विभाजन कर दिया गया, इस दशा में विभाग होने पर भी उत्पन्न शिशु के अंश दाय के निमित्त पुनः विभाग का होना ही है।

आगे हम अविभाज्य धन का परिगणन करना चाहते है जिसका याज्ञवल्क्य निर्देश देते हैं कि माता पिता के द्रव्य अविरोध से, मित्र से, विवाहादि से, स्वयं कमाये गये धन से विभाग नहीं किया जायेगा। युद्ध और भार्या धन को छोड़कर विद्या से अर्जित किये गये धन का विभाग नहीं होगा। अलगाव होने के पूर्व वस्त्र, वाहन और अलंकार आदि जो जिसे दिये गये हों उसके विभाग नहीं किये जायेंगे। पिता द्वारा धारित वस्त्र इत्यादि पिता के मरने पर श्राद्ध

भोक्ता को दिया जाय। गृह, आराम आदि सार्वजनिक स्थलों का मार्ग अविभाज्य होगा। इसी प्रकार कूप, बावली, तालाब इत्यादि का भी विभाग नहीं होगा। पति द्वारा प्रीतिदाय धन भी नहीं बाँटा जायेगा। वंश क्रमागत भूमि या धन जो डूब चुका हो अर्थात् जिसका मिलना सम्भव नहीं, ऐसे धन को उगाहने वाला उस धन का पूर्ण स्वामित्व पाता है। ऐसे धन या भूमि का विभाग नहीं होगा। इस सम्बन्ध में जीमूतवाहन, विज्ञानेश्वर और मित्रमिश्र तथा मनु आदि सभी एकमत हैं।

जीमूतवाहन का कहना है कि यदि कोई अत्यल्प धन की लागत लगाकर अधिकाधिक धन का उपार्जन करता है तो उसका विभाग किया जायेगा। उपार्जन कर्त्ता उपार्जित धनराशि से दो भाग पाने का अधिकारी होगा और शेषांश में जिस क्रम से जितना जिसका अंश होगा, वह उतना पाने का अधिकारी होगा।

विभाग काल में किन लोगों का अधिकार नहीं होता है, ऐसे भी क्रम का निर्देश यहाँ किया गया है। नपुंसक, पतित, पतित से उत्पन्न, पङ्गु, उन्मत्त, जड़बुद्धि, अन्ध, अचिकित्स-व्याधि-पीड़ित, श्रमान्तरगत लोगों का विभाग में अंश-धारण का अधिकार नहीं होगा, ऐसा वशिष्ठ, नारद आदि का निर्देश है।

मनु के अनुसार क्लीब, पतित, जन्मान्ध और बधिर का अंश होता है पर उन्हें विभाग में भोजन, वस्त्र मात्र का अनुग्रह मिलता है। क्लीब आदि दशा में भी औरस और क्षेत्रज पुत्रों का धन ग्रहण करने का अधिकार निर्दिष्ट है। इसी क्रम में दत्तक का भी विभाग में स्वत्त्व धारण करने का श्रेयस्कर दायित्व उत्पन्न होता है। दुहितायें भरण-पोषण का ही अधिकार पाती हैं। प्रव्रज्या धारण करने वाले का भी विभाग में स्वत्त्वाधिकार नहीं होता है।

पिता के समुदित समुदाय धन का विभाग हो जाने पर भी यदि कोई अज्ञात धन अविभाज्य रहता है तो उसका विभाजन समस्त भाईयों में विशोद्धारा व्यवस्था क्रम से समान रूप से किया जाय। इस कथन से यह तात्पर्य निकलता है कि छुपा हुआ धन जो देखे, वही सम्पूर्ण धन नहीं ले सकेगा। अपितु उसमें सभी भाईयों में समान विभाजन-क्रम का निर्देश है। यदि अज्ञात किसी धन का परिग्रहण ज्येष्ठ पुत्र या कनिष्ठ पुत्र करते हैं तो उन्हें निश्चय ही दोषी समझना चाहिए। क्योंकि ऐसे धन में सभी भाईयों का समान अधिकार होता है। भाइयों में अज्ञात धन का विभाजन न करने पर धन द्रष्टा, स्तेय, प्रायश्चित्त और राजदण्ड का भागी होगा, ऐसा मित्रमिश्र ने निर्धारित किया है।

विभाग क्रम में यदि कोई सन्देह उत्पन्न हो जाय तो पितृबान्धव, मातृबान्धव जैसे नाना, मामा इत्यादि के साक्ष्य से और लेख साक्ष्य से तथा विभाग-निर्णय-पत्र से विभाजन करना चाहिए।

विभागकर्म में सन्देह उत्पन्न होने पर दायाद, बान्धवों द्वारा किया गया निर्णय लेखानुसार विभाजन में प्रामाणिक होता है। इस प्रकार साक्ष्य के सहयोग से विभाजन का कार्य शास्त्रसम्मत स्वीकृत है। विभाग निर्णय में ज्ञाति, सपिण्ड प्रथम साक्षी अनुमान्य है। उनके अभाव में बन्धु और उनके भी अभाव में उदासीन व्यक्तियों को साक्षी बनाना चाहिए। लिखित साक्ष्यों को भी प्रत्यक्ष साक्षियों द्वारा सम्पुष्ट करना चाहिए। यदि लिखित प्रमाण और साक्ष्य का अभाव हो तो वहाँ अनुमान से विभाग का विनिर्णय करना उचित होगा। अनुमान प्रमाण से किया जाने वाला निर्णय दिव्य शपथों से प्रमाणित कराना श्रेयस्कर होगा, ऐसा मित्रमिश्र का अभिप्राय है। इस अनुक्रम में दायभाग का अनुशासन सभी को शिरोधार्य है। इसलिए आज भी विज्ञानेश्वर, जीमूतवाहन और मित्रमिश्र इत्यादि के सन्दर्भित ग्रन्थों की प्रामाणिकता है।

उपसंहार के अन्तर्गत इस बात का एक साक्ष्य अवश्य प्रस्तुत किया गया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि दायभाग के ऊपर कितने निबन्धकारों ने कार्य किया है। अनुसन्धान एवं सौविध्य को ध्यान में रखकर निबन्धकारों की एक संलग्नक सूची है, विचारक इससे अवश्य लाभ उठायेंगे। परिशिष्ट में दायभाग परम्परा की विविध शाखाओं के धर्माचार्यों का समय, शिक्षा, दीक्षा कर्त्तृत्व और वैशिष्ट्य का प्रतिपादन किया गया है। सर्वप्रथम कालक्रम से याज्ञवल्क्यस्मृति के मिताक्षरा-टीकाकार आचार्य विज्ञानेश्वर का, तत्पश्चात् दायभाग के रचयिता आचार्य जीमूतवाहन का और बाद में वीरमित्रोदय के रचनाकार आचार्य मित्रमिश्र का विवरण उपस्थित किया गया है।

इस ग्रन्थ की प्रस्तावना मैंने सम्बन्धित ग्रन्थों के अध्ययन से सहज ज्ञान के लिए किया है। सम्पादन व्यवस्थाओं में श्रुति, स्मृति, आदि के उद्धरणों का उपयोग सन्दर्भित किया गया है।

यह उपस्थापन यौगिक पद्धति का तो है ही साथ ही अनुसन्धानात्मक प्रवृत्ति का भी पर्याप्त अनुपालन इस ग्रन्थ की अपनी विशेषता है। अतः आचार्य सम्प्रदाय के लिए तो यह ग्रन्थ उपयोगी है ही, साथ-ही-साथ इस दिशा में शोध-कार्य करने वाले अनुसन्धाताओं के निमित्त भी यह एक उपजीव्य है। इन

आयामों से मैं आशा करती हूँ कि यह ग्रन्थ सभी दिशा में अपने उपयोग के निमित्त सक्षम और निर्णयात्मक होगा।

यह ग्रन्थ विविध विश्वविद्यालयों की आचार्य कक्षा में निर्धारित है अतः हिन्दी और संस्कृत की उभय परम्पराओं द्वारा ग्रन्थ-तत्त्व का ज्ञान-प्रकाश सभी को सुलभता से प्राप्त हो, इसलिए हिन्दी में प्राक्कथन का उपक्रम अपनाया गया है। आधुनिक विधि-कक्षाओं के निमित्त भी इस ग्रन्थ की उपादेयता है। उत्तराधिकार के अनुपालन में ग्रन्थ-तत्त्वों का सर्वातिशायी प्रभुत्व देखा जाता है। यदि सम्पादन में कोई त्रुटि हो तो पाठक गण इस निमित्त मुझे अवश्य आश्वस्त करेंगे।

यह सम्पादन कार्य को मैं अपने परमपूज्य पितृपाद पण्डित राममूर्ति द्विवेदीजी एवं पूज्य मातृचरण श्रीमती पण्डित राजदेवी जी के पादपद्मों में अर्पित करती हूँ, यतः इन्हीं लोगों के आशिर्वचन से मुझे इतना आगे बढ़ने का सौभाग्य मिलता रहा है, रहेगा। मैं पूज्य भ्रातृवर श्री वीरेन्द्र प्रसाद द्विवेदी को भी साभार अभिनन्दित करती हूँ, उन्होंने मुझे बचपन से हो अपार स्नेह देकर शिक्षा के क्षेत्र में अभिप्रेरित किया है।

मैं दायभाग-प्रकाशिका के लेखक डॉ० बदरीनारायण पाण्डेय आचार्य, एम० ए०, डी० लिट्० के प्रति अपना आभार अर्पित करती हूँ। इनके आशीर्वाद ने ही मुझे शिक्षा का अवसर प्रदान किया है। आज मैं इन्हीं के सहयोग से इस सम्पादन जगत् में भी अवतरित हो सकी हूँ।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के कुलपतिचर डॉ० गौरीनाथ शास्त्री जी ने मुझे इस जगत् में कार्य करने का अवसर प्रदान किया है, अतएव मैं उनकी सत्प्रेरणा और स्नेह निष्ठा का हृदय से समादर करती हूँ तथा पूर्णरूप से मैं उनकी आभारी और कृतज्ञ हूँ।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के कुलपति डॉ० रामकरण शर्मा के प्रति भी मैं पूर्ण कृतज्ञ हूँ, यतः इन्होंने मुझे संस्कृत-सर्जना-जगत् में कार्य करने को प्रोत्साहित किया है। मैं इनसे आशान्वित हूँ कि भविष्य में भी इनका आशीर्वाद तथा पुत्रीवत् स्नेह मुझे प्राप्त होता रहेगा।

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय वाराणसी के भूतपूर्व कुलपति प्रोफेसर पण्डित बदरीनाथ शुक्लजी से मैं सर्वाधिक उपकृत हूँ। यतः इन्होंने मुझे पुत्री

का स्नेह देकर इस दिशा में काम करने को प्रोत्साहित किया है। इस अवसर पर मैं यह भी कहना चाहूँगी कि पण्डित शुक्लजी की सत्प्रेरणा ने ही मुझे संस्कृत जगत् में दो पग चलना सिखाया है। मेरे पास वे शब्द नहीं हैं जिनसे मैं कृतज्ञता ज्ञापित करूँ, केवल सहृदयता से ही मैं कृतज्ञ हूँ।

इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ के सम्पादन में प्रोफेसर डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी, प्रोफेसर डॉ० देवस्वरूप मिश्र, प्रोफेसर पं० जगन्नाथ उपाध्याय, प्रोफेसर पं० पट्टाभिराम शास्त्री, प्रोफेसर पं० राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय, प्रोफेसर पं० रघुनाथ जी शर्मा, डॉ० मण्डन मिश्र, पं० रामगोविन्द शुक्ल डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र, डॉ० श्रीराम पाण्डेय, डॉ० पारसनाथ द्विवेदी, डॉ० कैलासपति त्रिपाठी, डॉ० रामजी उपाध्याय, डॉ० विभूतिभूषण भट्टाचार्य, डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य, डॉ० भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी, आचार्य पण्डित बलदेव उपाध्याय, आचार्य पं० विश्वनाथ शास्त्री "दातार" प्रभृति विद्वानों का मैंने सहयोग प्राप्त किया है, अतः मैं उन समस्त विद्वानों के निर्देशन के प्रति कृतज्ञ हूँ।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में निर्देशक, वाराणसेय-संस्कृत-संस्थान, वाराणसी का पूर्ण सहयोग मुझे प्राप्त हुआ है, अतः मैं उनकी आभारी हूँ।

आशा है इस दायभाग प्रकाशिका ग्रन्थ से प्राच्य पाश्चात्य संस्कृत-जगत् और आधुनिक-विधि-अध्येता-छात्र अवश्य लाभान्वित होंगे। सर्वसाधारण जनों के लिए भी यह ग्रन्थ अवश्य उपादेय होगा ही। मुझे यह भी विश्वास है कि मेरा यह आयाम विधि-वेत्ताओं, अधिवक्ताओं का भी आशीर्वाद अवश्य उपार्जित करेगा।

वाराणसी
रामनवमी–२०४१
सन् १९८४

डॉ० कु० रामेश्वरीकुमारी "रासेश्वरी"
प्राचीनराजशास्त्र एवं अर्थशास्त्र-धर्मशास्त्र-साहित्याचार्या
एम० ए०, बी० एड्०, साहित्यरत्न-सम्पादिका
'अध्यापिका', प्राचीनराजशास्त्र एवं अर्थशास्त्रविभाग
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

प्रास्ताविकम्

अत्र दायभाग-प्रकाशिकाग्रन्थे दाय-सिद्धान्तानामनुशीलनं कृतमस्ति। याज्ञवल्क्यस्मृतेः विज्ञानेश्वरकृतटीकायाः, जीमूतवाहनकृतदायभागस्य, मित्रमिश्रकृत-वीरमित्रोदयव्यवहारप्रकाशस्य रिक्थोत्तराधिकारप्रभृतीनामाचारव्यवहार-प्रायश्चित्त-सिद्धान्तानां विशेषेण पर्यालोचनं कृतमस्ति।

यद्यप्याधुनिकेऽस्मिन् भारते समेषां दाय-सिद्धान्तानामन्तर्भावो हिन्दूविधौ पिन्नद्धमवलोक्यते तथापि विधिव्यवसायिनामधिवक्तॄणां न्यायकर्त्तॄणां धर्मशास्त्र-व्यवहार-दण्डापराधशास्त्राध्येतॄणां छात्राणामध्यापकाणाञ्चात्यल्पसमयेनातिलघुस्वा-ध्यायेन सारल्येनानायासेन च सुखबोधायायं समीक्षाग्रन्थः प्रभविष्यतीति मे विश्वासः।

इह दायसन्दर्भे स्मृतीनां व्यवहारशास्त्राणां राद्धान्तानामुपस्थापनं विषय-प्रतिपादनं च कृतम् विद्यते। तत्र क्रमे दायपदव्युत्पत्तिरादौ प्रदर्शिता। दायविभागं कदा, कथं, केन कर्त्तव्यमिति विचारप्रसङ्गे स्वत्वमादाय विभागमुपकल्पयेदित्युच्यते। तत्र स्वत्वं जन्मनेति विज्ञानेश्वर; जीमूतवाहनस्तु विभागात्स्वत्वमुपकल्पयति। शास्त्रैकसमधिगम्यं स्वत्वं लोकसिद्धं वेत्यत्र साधकबाधकयुतयः विवेचिताः। विभा-गात्स्वत्वमुत स्वत्वस्य स्वतो विभागश्चात्र सन्देहे नियमः कल्पितः। तेनैव सम्बन्धेन धनविभागकालस्य च राद्धान्तोपकल्पितः। तत्रैव पितामहधनविभागस्य कालनिर्देशः, पितरिधने भ्रातॄणां भागकल्पना, पितामहधने पितुरंशनिर्धारणं, पुत्रार्जितेधनेपितुर्भाग-कल्पनादीनां विषयाणां सिद्धान्तो विवेचितो विद्यते। सवर्णासवर्णविभागक्रमे सवर्ण-भ्रातॄणामंशकल्पनम्, द्वादशविधपुत्राणामंशनिर्धारणम् अप्रजः पुं-स्त्रीणां धनाधिका-रीणामंशनिर्देशन्तथा तेषामधिकारनिरूपणं शास्त्रसम्मतमुपस्थापितं वर्तते।

ततश्च संसृष्टिधनस्य स्त्रीधनस्य च विभागनिर्दिशनमंशकल्पनमपि निर्वर्णितमत्र विद्यते। विभागकाले निह्नुतस्य पश्चादागतस्यांशनिर्देशं शास्त्रनियमेनोपकल्पितं वर्तते। विभागक्रमेऽविभाज्यस्य धनस्यापि चर्चा निर्वर्णिताऽवलोक्यते। उपसंहारे दायभागनिबन्धकर्त्तॄणामेका सूचिका निर्मिताऽस्ति। परिशिष्टे विज्ञानेश्वरस्य, जीमूतवाहनस्य, मित्रमिश्रस्य चेतिवृत्तं यथोपलब्धप्रमाणैरातन्वितं विद्यते।

अत्र ग्रन्थे येषां ग्रन्थानां साहाय्यमवाप्तं तत्तद्ग्रन्थकाराणामाभारं ख्यापयामि। ततश्च सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य कुलपतिचराणां डॉ० गौरीनाथशास्त्रि-

णामाभारं न विस्मरामि, यतोहि तैराशीर्वादवचसा ह्यहमस्मिन् प्रकाशने शक्त इत्यनुभवामि ।

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य कुलपतीनां डॉ० रामकरणशर्मणामपि साभारमभिनन्दनं व्याहरामि यतोऽस्य ज्ञानप्रकाशः कृपाप्रसादश्च मां प्रभावयतितराम् ।

अस्य ग्रन्थस्य सम्पादिकां डॉ० कु० रामेश्वरीकुमारी रासेश्वरीमप्याशीर्वचसा संयोजयामि यया सम्पादनं सोत्साहं निर्भालितम् ।

निदेशको वाराणसेय संस्कृतसंस्थानस्यापि ग्रन्थप्रकाशने योगदानमवाप्तमिति तस्याप्याभारमभिनन्दयामि ।

वाराणसी
वसन्तनवरात्रम्
संवत् ४०४१
सन् १९८४

विद्वज्जनानुचरः
डॉ० बदरीनारायण पाण्डेयः
अन्ताराष्ट्रियविभागाध्यापकः
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य, वाराणसी

विषय-तालिका

क्रमाङ्काः	विषयनामानि	पृष्ठाङ्काः

ॐ

दायभाग-प्रकाशिका

श्रीगणेशं नमस्कृत्य प्रणम्य जगदम्बिकाम् ।
प्रवक्ष्यामि यथामत्या दायभाग-प्रकाशिकाम् ॥

अथ दायपद-व्युत्पत्तिल्लक्षणञ्च

दीयत[१] इति व्युत्पत्या दायशब्दः स्वयमेव पच्यते तन्दुल इत्यादिवत् । कर्त्तनपेक्षः । ददाति यमिति प्रयोगो गौणश्चेति बोध्यः । पित्रादीनां मरणोत्तरमेव तत् स्वत्त्वनिबृत्तेः हेतोः पुत्रादीनां स्वत्त्वोत्पत्तिरूपफलव्यापारो (व्यवहारः) गृह्यते । तत्साम्याद् मृतकादीनां स्वत्त्वत्यागस्तु न, अपितु पूर्वस्वामिसम्बन्धाधीनं तत्स्वाम्युपरमे यत्र दव्ये स्वत्त्वं भवति तदेव स्वत्त्वं परम्परया वंशानुक्रमे जातके (पुत्रे) दीयते । तत्रैव निरूढो दायशब्द इति जीमूतवाहनः ।

दायपदेन[२] यद्धनादिकं स्व-स्वमिसम्बन्धादेव निमित्तादन्यस्य पुत्रादेः स्वं भवति, तदेवोच्यते इति विज्ञानेश्वरः ।

जीमूतवाहनमपेक्ष्य तन्न मनोरमम् ।[३] स्वत्त्वस्य निरूढत्वाङ्गीकारे दाय-ददातिपदयोः गौणत्वोपन्यासस्यानर्थक्यात् । यतोहि, सर्वथाऽवयवराहित्ये निरूढत्वमुपजायते । तस्मान्न तत् ।

न च योगरूढत्वाऽङ्गीकारेऽवयवार्थबाधस्य स्वयमेवोपन्यासादिति वीरमित्रोदये व्यवहारप्रकाशे मित्रमिश्रः । तस्मात्तत्र स्व-स्वामिसम्बन्धमात्रेण यत्र द्रव्ये स्वत्त्वं स दाय इति संगच्छते ।

"विभक्तव्यं पितृधनं दायमाहुर्मनीषिण"[४] इति निघण्टुवचनात् दायशब्दो रूढ इति निगद्यते ।

---

१. दायभागे (जीमूतवाहनकृत) १. ४-५

२. याज्ञवल्क्यस्मृतौ मिताक्षरायाम् । पृष्ठ—२५६

३. वीरमित्रोदयस्य व्यवहारप्रकाशे पृष्ठ—५२२

४. अत्र पितृपदं सम्बन्धिमात्रोपलक्षकमुच्यते ।

अतएव विज्ञानेश्वर-मित्रमिश्रयोर्मते दायशब्दो रूढः। जीमूतवाहनमते तत्र दायसाम्यादेव गौण इति भेदः। तत्र दानं दाय इति भावव्युत्पत्तिपक्षे दायशब्दः। कर्मव्युत्पत्तिपक्षे तु दीयते असाविति दाय इति फलितोर्थः पर्यवस्यति।[1]

एतयोः सिद्धान्तयो एकतरस्य विज्ञानेश्वरस्वीकृतस्य जन्मनः प्रभृत्येव स्वत्त्वोपत्तिर्जायते। किन्तु तत्र यथेच्छविनियोगसामर्थ्यन्तु पित्रोर्मरणोत्तरमेव समुद्गच्छति। जीमूतवाहनस्तु पितुर्मरणोत्तरमेव पुत्रस्य पैतृकधनादौ स्वत्त्वोपत्तिमङ्गीकरोति। अत्रानयोः सिद्धान्तयोः विज्ञानेश्वरमतमेव मित्रमिश्रेण स्वीक्रियते। एतेन सिद्धान्तपक्षे विज्ञानेश्वर-मित्रमिश्रयोस्साम्यमिति सुस्पष्टं भवति।

दायविभागलक्षणम्

द्रव्यसमुदायविषयाणामनेकस्वाम्यानां तदेकदेशेषु व्यवस्थापनं विभागो नाम इति विज्ञानेश्वरमतम्[2]। अयमत्र निष्कर्षः—यज्जन्मना जनस्य पितृधने स्वत्त्वं सामान्यं भवति, तस्य स्वत्त्वस्य दव्यसमुदायादादाय द्रव्यविशेषेषु येन क्रमेण व्यवस्थापनं स विधिर्विभाग इति भावः।

जीवमूतवाहनमते[3] एकदेशोपात्तस्यैव भूसुवर्णादावुत्पन्नस्य स्वत्त्वस्य विनिगमनाप्रमाणाभावेन वैशेषिकव्यवहारानर्हतयाऽव्यवस्थितस्य गुटिकापातादिनां व्यञ्जनं विभागः। विशेषेण भजनं स्वत्त्वज्ञापनं वा विभाग इत्यपि तात्पर्यमत्र।[4]

अत्र मनुरपि—

एष स्त्रीपुंसयोरुक्तो धर्मो वो रतिसंहितः।
आपद्यपत्यप्राप्तिश्च दायभागं निबोधत॥[5]

इत्युपक्रम्य यावत्सम्बन्धिधनविभागमुक्तवान्। नारदोऽपि मात्रादिधनविभागमुपदर्शितवान्। तदेव विभक्तावयवत्त्वं संयुक्तावयवत्वञ्चोभय-

---

१. विभागोऽर्थस्य पित्र्यस्य पुत्रैर्यत्र प्रकल्प्यते।
दायभाग इति प्रोक्तं तद्विवादपदं बुधैः॥

२. याज्ञलवयस्मृतौ मिताक्षरायाम्—पृष्ठ २६५

३. दायभागे—१.८९

४. दायभागे—१.९१

५. मनुस्मृतौ—९.१०३

विधिविभागः। तत्र विभक्तावयवत्वे दायविनाशापत्तेः संयुक्तत्वे च न ममेदमिति भ्रातुरिदमिति विच्छेदः।

इह द्वयोर्विरोधे मित्रमिश्रस्तु विज्ञानेश्वरमाश्रयति। यतस्तन्मते विभागपदन्तु "अनेकस्वाम्यानां द्रव्यसमुदायविषयाणां तदेकदेशेषु व्यवस्थापने शक्त"[1] इति। एतेन स्पष्टञ्चोदाह्रियते—"पितुरूर्ध्वं गते पुत्रास्तद्धनं विभजेयुरिति"। मित्रमिश्रविज्ञानेश्वरौ जन्मना स्वत्त्वं स्वीकुर्वतः। जीमूतवाहनस्तु न तथा। स्वामिनः स्वत्त्वापगमे पुत्रादीनां स्वत्त्वं प्रतिपादयति सः। जन्मना स्वत्त्वपक्षे, तन्मते वस्तुतः स्वत्त्वस्य यथेच्छविनियोगार्हत्वाभावादनेकस्वत्त्वोत्पादनविनाशगौरवाच्च विज्ञानेश्वरकृतलक्षणमयुक्तमिति।

स्वत्त्वं जन्मना स्वाम्युपरमाद्वा

न चात्रोपरतस्पृहत्वादिना पुत्राणां स्वत्त्वं पितृधने जन्मना भवति। तन्मते (विज्ञानेश्वरमते) "उत्पत्त्यैवार्थस्वामित्वं लभेत इत्याचार्या" इति गौतमवचनेन जन्मना स्वत्त्वमङ्गीक्रियते तत्रैव स्वत्त्वं लोकसिद्धं, तस्मात्तत्र जन्मना स्वत्त्वं सर्वथा प्रसिद्धमेव प्रतिपादिम्।

ये जाता येऽप्यजातश्च ये च गर्भे व्यवस्थिताः।
वृत्तिं तेऽपि हि काङ्क्षन्ति न दानं न च विक्रयः॥[2]

अनेन वचसाऽपि जन्मनैव स्वत्त्वमुपजायते।

अपि च—

मणिमुक्ताप्रवालानां सर्वस्यैव पिता प्रभुः।
स्थावरस्य समग्रस्य न पिता न पितामहः॥[3]

इति याज्ञवल्क्यमतेन मणिमुक्तादिजङ्गमधने पितुरेव स्वाम्यं, स्थावरेषु पितुः पुत्रादीनामपि साधारणं स्वत्त्वं भवति। तेनापि जन्मना एव स्वत्त्वमङ्गीकर्तुं युज्यते। परन्तु पुत्रस्य पित्राधीनत्वात् स्वातन्त्रेण स्वत्त्वार्हता नास्ति। पितुः पुत्रादीनां स्वत्त्वे सत्यपि स्वातन्त्रे धर्मकृत्येषु कुटुम्बभरणादिषु यज्ञादिष्वावश्यककृत्येषु च तद्रहिते प्रत्यवायापत्तेस्तत्तत्कार्यसम्पादनार्थन्नायमधिकारो धनव्यये। अथवाऽन्यायेन विक्रीणीते ददाति वा यत्किञ्चित्तदा जन्मना स्वत्त्वात्तं निरोद्धुं पुत्रः प्रभवेदिति विज्ञानेश्वरः।

---

१. वीरमित्रोदये व्यवहारप्रकाशे—पृष्ठ ५२२

२. याज्ञवल्क्यस्मृतौ मिताक्षरायाम्—पृ० २६८

३. जीमूतवाहनकृतदायभागे उद्धृतः—पृ० १०

जन्मना न स्वत्त्वमिति जीमूतवाहनः। तन्मते स्वाम्युपरमात्स्वत्त्वमुपलभ्यते। तत्र मरण-प्रव्रज्यादिना स्वत्वनाशानन्तरं तेन सार्द्धं सम्बन्धजननादेव पुत्रादीनां स्वत्त्वं सिध्यति। "उत्पत्त्यैवार्थस्वामित्वं लभेतेत्याचार्य्या" इति गौतमीयवचनस्यात्रायम्भावः स्वीक्रियते। पितृस्वत्त्वोपरमेऽङ्गजत्वस्य हेतुभूतेनोत्पत्तिमात्रसम्बन्धेनान्यसम्बन्धजननेन वा जनकधने पुत्राणामधिकारात्तद्धनमेव पुत्रो लभते नान्यसम्बन्धिजन इत्याचार्याणामभिप्रायम्। अतएवेदं वचनं जन्मना स्वत्त्वन्नोपकल्पितुं शक्ष्यति। अपितु मनुवचनाज्जीवतोः पित्रोर्धने पुत्राणामस्वाम्यं प्रतिपादितमवलोक्यते। यथाहि—

उर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः स्वयम्।
भजेरन् पैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः॥[1]

अपि च जन्मना स्वत्त्वे सिद्धेऽपि "जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्निनादधीत" इत्यादिवचसा धनसाध्येऽग्न्याधानादिकर्मणि पितुरधिकारः प्रसज्येत। तदानीं द्रव्यसमुदायस्य साधारणत्वापत्तेरेकेन साधारणधनव्ययस्य चानार्य्यत्वात्। पुत्रेणाप्यग्न्याधानादिवैधकर्मणि पितुरनुमत्यैव धनव्ययः कार्य्यः। अतएव जन्मना स्वत्त्वमिति पक्षो न ज्यायान्।

पुनश्च "भर्या पुत्रश्च दासश्चेति"[2] मनुवचनप्रमाणात् स्वार्जितेऽपि धनेऽनधिकारात् कुतो वा पैतृकेधनेऽधिकारप्रसङ्गः।

अन्यच्च "भर्त्ता प्रीतेन यद्दत्तमि"त्यादिविष्णुवचनात् "प्रसादो यश्च पैतृक"[3] इति नारदवचनाच्च प्रीतिदानादिषु पितुरधिकारदर्शनान्न जन्मना स्वत्त्वं जायते।

ततश्च पुत्रो जन्मतः पितुरन्नादिना परिपाल्यते। पुत्राणां संस्कारादयोऽपि पित्रा यथाकालमनुष्ठेया भवन्ति हि। तस्मात्तत्र यो धनव्ययस्तदर्थं किं पुत्राणामनुमतिरपेक्षते? जन्मना स्वत्त्वमिति पक्षे तु नैतद् भवितुमर्हति। जन्मनैवं स्वत्त्वमिति प्रमाणाभावान्न जन्मना स्वत्त्वम्। परन्तु मृते प्रव्रजितेनिष्पृहे पतिते स्वामित्वनाशे च सति स्वत्त्वमुद्भवतीति जीमूतवाहनः।

मित्रमिश्रो जीमूतवाहनमतं निरस्य विज्ञानेश्वरं समर्थयति। तन्मते

---

१. मनुस्मृतौ ९.१०४

२. भार्या पुत्रश्च दासश्च.......। मनुस्मृतौ ८.२८८

३. नारदस्मृतौ—१३.६

स्वत्वस्य लौकिकत्वाज्जन्मत एव लोके पुत्रादीनां स्वत्वं स्वीक्रियते। कृष्णकेशोऽग्नीनादधीतेत्यादिधनसाध्येऽन्याधानादौ कर्मणि जन्मना स्वत्व-पक्षे पितुरनधिकारो विज्ञायते पक्षान्तरेऽपि जीवति पितरि तथाविधवैध-कर्मण्यपि पुत्रस्याप्यनधिकारः, प्रसज्येतेति पक्षद्वयं सममेव स्वीकर्त्तुं शक्यते। यदि जन्मना स्वत्वमस्वीकृत्य स्वाम्युपरमे स्वत्वं स्यात्तर्हि धनस्वाम्यु-परमाद् विभागान्तरं स्वत्वे प्राप्ते तदानीं पुत्राणां स्वत्वाभावात् तद्धनं यस्य कस्यापि स्यादिति प्रतीयते।

"ऊर्द्धवं पितुश्च मातुश्चेति"[1] मनूक्तं जीमूतवाहनव्याख्यादिशो जन्मना स्वत्वं न निराकरोति, परन्तु पितुः जीवने धनव्ययीकरणे पुत्राणां स्वा-धीनतामेव वारयतीत्याशयः परिस्फुरति।

प्रीतिदानादेरपि 'भर्त्ता प्रीतेन यद्दत्तमिति" वचनस्य पुत्राद्यनुमत्या सम्भवात्, निबन्धकारैः प्रायेण जन्मना स्वत्वमङ्गीक्रियते।

शास्त्रैकसमधिगम्यं लोकसिद्धं वा स्वत्वम्

स्वत्वं शास्त्रैकसमधिगम्यं लौकिकं वेति सन्देहे जीमूतवाहनः स्वत्वं शास्त्रैकसमधिगम्यमिति, स्वत्वस्य शास्त्रमूलत्वादिति तदुक्तेः। गौतमश्चात्र[2] "स्वामी रिक्थक्रयसंविभागपरिग्रहाधिगमेषु ब्राह्मणस्याधिकं लब्धं क्षत्रियस्य विजितं, निर्विष्टं वैश्यशूद्रयोरिति प्रतिपादयति।

अप्रतिबन्धको दायो रिक्थम्। यथाहि पितृधने पुत्रस्याधिकारः। क्रयो नाम समुचितमूल्यदानेन द्रव्यस्वीकारः। सप्रतिबन्धकदायस्य विभागेन द्रव्यविशेषेषु स्वत्वज्ञापनम् संविभागः। परिग्रहो ह्यनन्यसाधारणस्यादेः तृणकाष्ठादेर्वा प्रथमं ममेदमिति बुद्ध्या ग्रहणम्। अधिगमपदेन प्रणष्ट-स्वामिकस्य निध्यादेः प्राप्तिः। अत्र सन्दर्भे पञ्चैतेषां समेषां ब्राह्मणादि-वर्णानां साधारण्येन स्वत्वहेतवः सन्ति।

ब्राह्मणस्य पुनः सत्प्रतिग्रहेण लब्धं धनमाधिकम्। धर्मयुद्धार्जितौ धने क्षत्रियस्याधिकम्। वैश्यस्य कृषिवाणिज्यादिना, शूद्रस्य च दासवृत्त्या भृति-सदृशं विवक्षितमाधिकं भवति। अतएवात्र गौतमेनैतानि स्वत्वनिमित्तानि प्रकल्पितानि, तत्र स्वत्वं शास्त्रैकसमधिगम्यमेवाश्रीयते।

---

१. मनुस्मृतौ—९.१०४

२. गौतमधर्मसूत्रम्—१०.३९-४२

यदि स्वत्वं शास्त्रीयं न स्यात्तर्हि—

योऽदत्तादायिनो हस्ताल्लिप्सेत ब्राह्मणो धनम् ।
यदनध्यापनेनापि यथा स्तेनस्तथैव सः ॥

अनेन वचसा मनुवचनं न संगच्छते । तत्र स्वत्वस्य शास्त्रीयत्वे याग-याजनाध्यापनादिवैधकर्मणाऽपि गृहीते धने दोषाभावः स्यात् । अत्र द्रव्यदातुश्चौर्यधने स्वत्वाभावात् तत्तत्प्रतिग्रहकारिणोऽपि स्वत्वाभाव प्रत्युत दोषश्च प्रसज्येतेति परिज्ञायते ।

लौकिकत्वे स्वत्वस्य मम धनमनेन गृहीतमिति न हि कश्चन वक्तु पारयेत्, तत्रापहर्त्तुरेव स्वत्वात् । अतः स्वत्वं शास्त्रैकसमधिगम्यमिति धारेश्वरप्रभृतीनामपि मतं जीमूतवाहनेन स्वीक्रियते ।

विज्ञानेश्वर-मित्रमिश्रादय एतन्मतन्न स्वीकुर्वन्ति । तेषामभिप्रायेण स्वत्वन्तावल्लौकिकं लौकिकक्रियासाधनत्वात् व्रीह्यादिवत् । यथा हि आहवनीयादीनां शास्त्रैकसमधिगम्यानां न क्वचिल्लौकिककार्यकार्यत्वम-वलोक्यते । यदि वाऽऽहवनीयादीनां पाकादिलौकिकक्रियाकारित्वमस्ति तदपि तत्र तेषां नाहवनीयादिरूपेण परन्तु लौकिकाग्न्यादिरूपेणैव ।

पुनश्चादृष्टशास्त्रव्यवहाराणां प्रत्यन्तवासिनां क्रयविक्रयादौ स्वत्व-व्यवहारो वर्तत एव । तेन स्वत्वं लौकिकमेव सर्वथा प्रतीयते ।

अपि च, क्रतुसिध्यर्थं द्रव्यार्जने नियमातिक्रमार्जितेनापि द्रव्येण क्रतुः सिद्ध्यति । तत्र पुरुषस्य नियमातिक्रमे दोषः, स्वत्वस्य लौकिकत्वादिति मीमांसकानां राद्धान्तः । तस्माच्चौर्यादिलब्धमाने धने स्वत्वं स्यादिति न स्वीकर्त्तव्यम् । तत्र लोकेऽपि स्वत्वप्रसिद्धेरभावात् न हि कश्चिच्चौरधने चौरस्य स्वत्वमस्तीति स्वीक्रियते । न वा स्तेनश्चौर्यस्य धनस्य यथेष्ट-विनियोगं कर्त्तुं पारयति । तस्माद् गौतमोक्तं स्वत्वसाधनसूत्रं स्वत्वहेतु-रूपेण लोकसिद्धमपि अनुवादकत्वेनानुगृहीतम् । अतः स्वत्वं लौकिकं नियतोपायकञ्चेति मन्तव्यम् । 'उपायाश्च रिक्थक्रयादयो गौतमादिभि'रिति युक्तयः प्रदर्शिता एवावलोक्यन्ते ।

विभागात्स्वत्वमुत स्वस्य सतो विभागः कश्चात्र नियमः

जीमूतवाहनो विभागात् स्वत्वमङ्गीकरोति । प्रमाणमत्र—

पितर्य्यूर्द्ध्वं गते पुत्रा विभजेयुर्धनं पितु''रिति नारदवचनाद् विभागा-त्पूर्वं पुत्राणां न स्वत्वमिति ।

विज्ञानेश्वरमित्रमिश्रादिभिर्नायं पक्षःस्वीक्रियते। तेषां मतानुसारेण विभागस्य स्वत्त्वकारणता न स्वीक्रियते। यतः क्वापि शास्त्रे रिक्थक्रयादिवद्विभागस्य स्वत्त्वकारणत्वन्नोक्तमिति परिलक्ष्यते।

यदि विभागात् स्वत्त्वं स्याच्चेत्तर्हि चौराणामपि चौर्य्यधनस्य विभागानन्तरम् स्वत्त्वमापद्येत। अतो विभागान्न स्वत्त्वमिति समायाति। किन्तु स्वत्त्वं सति विभाग इति सर्वथा युज्यते, तच्च विज्ञानेश्वरमित्रमिश्रादीनां मतम्।

इतोऽन्यद् रघुनन्दनभट्टाचार्या अपि विभागात्स्वत्त्वं नाद्रियन्ते। तन्मते पितृमरणानन्तरमविभक्तयोर्भ्रात्रोः मध्ये एकैकं पैतृकमश्वमादाय वार्तया किञ्चिद्धनं प्राप्तवान्। तत्र प्रापकस्य भागे स एवाश्वः आयाति। तर्हि सम्पूर्णमर्जितंप्रापकस्य स्यादश्वश्रमयोस्तदीयत्वात्। अपरस्य च न किञ्चित्। वस्तुतस्तु कुत्रापि तत्समादरो नावलोक्यते। अतएव सति स्वत्त्वे विभागः स्यादिति समुचितं प्रतीयते। यतो हि लोके पुत्रादीनां पित्रादिधनेषु जन्मनैव स्वत्त्वमङ्गीक्रियते, स्वत्वं लौकिकमित्याचार्याः प्रतिपादयन्ति। "मणिमुक्ताप्रवालानां सर्वस्यैव पिता प्रभु"रिति वचनमपि जन्मनैव स्वत्त्वं प्रतिपादयति। "ये जाता येऽप्यजाताश्चे"तिवचनं "स्थावरं द्विपदश्चेत्याद्यपि स्वयमर्जितमितिवचने च जन्मप्रभृत्येव स्वत्त्वं सुदृढं बोधयतः। अतएव स्वत्त्वे सति विभाग इति विज्ञानेश्वर पक्षो ज्यायानिति राद्धान्तितः।

धनविभाग कालः कः ?

"उद्ध्वं पितुः पुत्रा रिक्थं विभजेरन्[1]" इति गौतमवचनेन पित्रोरूपरते स्पृहत्वादिना पुत्राणां स्वत्त्वं पितृधने भवतीति ज्ञापकादयमेकः कालो विभागेच्छारूपः। मनोर्व्यवस्थायान्तु उपरते पितरि ज्येष्ठ एव धनाधिकारी नेतरे। यथाह—

> **जेष्ठ एव तु गृह्णीयात् पित्र्यं धनमशेषतः।**
> **शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा॥**

तथा च—

> **ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्रीभवति मानवः।**
> **स एव धर्मजः पुत्रः कामजातितरान् विदुः॥**

---

१. गौतम धर्मसूत्रम्—१०.५०

एतेन सर्वेच्छाधीनज्येष्ठाधिकारश्रुतेः। अतएवात्र स्वेच्छया कनिष्ठोऽपि शक्त इति कुलस्थितिव्यवस्थया परिगृह्यते। परन्तु ज्येष्ठता चातन्त्रमेव।

"निवृत्ते चापि रजसि[1]" इति गौतमोक्तया मातरि निवृत्तरजस्कायां पितरि धननिस्पृहे तदनिच्छयापि पुत्राणामिच्छया द्वितीयो विभागकालः।

जीवति चेच्छेति[2] व्युत्पत्या जीवति पितरि पितुरिच्छेया विभागस्य तृतीयः कालो दर्शितः। निर्विशेषणमुपरतस्पृहत्वमेव पितृधने विभागकालो न तु तत्रानुपरतस्पृहे पितरि पतितेऽप्यविभाग एव गरीयः। तस्माद्धनविभागे पितुरुपरमः, पतितत्वं, स्पृहत्वमिच्छाचेति कालचतुष्टयापत्तिरुक्ता।

अत्र यद्यपि सामान्येन धनविभागस्य कालत्रयमेव तेनोक्तं तथापि मातृनिवृत्तरजस्कत्वविशेषणं पितामहधनविभागपरं न तु पितृधनविभागपरमिति विज्ञानेश्वरः।

जीमूतवाहनमते तु पितृधनविभागस्य कालद्वयमुपस्थापितमवलोक्यते। तत्राद्यः पितुः पतितत्वनिस्पृहत्वोपरमैः स्वत्त्वापगम एव एकः कालः। स्वत्त्वे सति जीवति पितरि तस्येच्छा द्वितीयः कालः।

पितामहधनविभाग कालः कः ?

पित्रोरभावे भ्रातॄणां विभागः सम्प्रदर्शितः।
मातुर्निवृत्ते रजसि जीवतोरपि शस्यते॥

इति बृहस्पतिवचनादुद्ध्वं पितुः पुत्राः रिक्थं विभजेयुः। निवृत्ते रजति मातुर्जीवति चेच्छात इति गौतमवचनाच्चापि पितुरिच्छातो विभाग एवेति निर्णीयते। अतएव पित्रोरभावे इत्येकः कालः। पित्रोरिति द्विर्वचननिर्देशो मातुरभाव एव द्योतयति। तेन पितामहादिधनस्यापि पितोरभावे इत्येकः कालः। अपरश्च मातुर्निवृत्ते रजसि पितुरिच्छात इति परः। एतेनावगम्यते पितुरिच्छामन्तरेण तस्य विभागो भविष्यत्येव नहि। अतएवात्रादिमनु-नारद-गौतम-बोधायन-शंख-लिखितादिभिरविशेषेण जीवति पितरि पुत्राणां यावद्धनगोचरास्वामित्वस्य पितुरिच्छाधीनविभागस्य कालनिर्देशः कृतः। याज्ञवल्क्यश्च—यथा पितामहधने पितुः स्वाम्यन्तथैव तस्मिन्मृते तत्पुत्राणा-

---

१. गौतम धर्मसूत्रम्—१०.४५
२. गोतम धर्मसूत्रम्—१०.५५

मपि, न तत्र सन्निकर्ष-विप्रकर्षाभ्यां कोऽपि विशेषः। पार्वणपिण्डदानेन द्वयोरपि तदुपकारकत्वा विशेषादिति। स्पष्टञ्चात्र—मृतपिण्डपितामहकः प्रपौत्रोऽपि पुत्रपौत्राभ्यां सह पिण्डदानात्तुल्याधिकारिण्यो भवन्ति। पितापुत्रयोः पितामहधने संविभागार्थं सदृशं स्वाम्यमिति वचनम्। पुत्राणां वा विभागस्वातन्त्र्यमिति मिताक्षराक्तन्मतद्वयं न युक्तम्। अतएव पैतामह-धने पितुभागद्वयम्, पितुरिच्छात एव विभागो न पुत्रेच्छयेति सिद्धति। पितुरनिच्छया जीवति पितरि यदि पुत्रा एव विभागमर्थयन्ते तदा विषम-विभागः पित्रा न दातव्यः। यथोक्तं मनुना—

भ्रातॄणामविभक्तानां यद्युत्थानं भवेत्सह।
न तत्र भागं विषमं पिता दद्यात् कथञ्चनः॥

अत्रायम्भावः—जीवति पितरि पितामहादीनां धनवनद्रव्याणां विभाग-स्तदीच्छया हि भविष्यति, भवितुमर्हति वेति। मृते सति दायः स्वतः समु-द्गच्छति। यदि चेत् पितुरनिच्छा तर्हि विभागो भवितुं नार्हतीति राद्धान्तः।

उपरते च पितरि भ्रातॄणां भागकल्पना

उद्ध्वं पितुश्चेत्यादि प्रामाण्येन भ्रातॄणां दायविभागः क्रियते। तत्र मातरि जीवन्त्याम्, सत्यपि पितुरुपरमाद् धनस्वामित्वे धर्मो न विभागः सोदराणां भवतीति निगद्यते। पित्रोरूपरमे (उभयोरिति) सोदराणां पैतृ-कधनविभागे भागोऽवलोक्यते। एवमेव मातृपक्षेऽपि विज्ञायते। किञ्च जनन्यां संस्थितायामित्यनेन्नैव मातरि मृतायां तदीयधनविभागस्योद्ध्व-मिति वचनानुसारेण विभागस्स्यादिति मनूक्तं संगच्छते। मातापित्रोरूपरमे भ्रातरो विभजेरनिति वदता याज्ञवल्क्येनोभयोरूपमानान्तरकालस्य विभा-गार्थतया विधानं विवक्षितम्। शंखलिखितौ रिक्थमूलं हि कुटुम्बमस्वतन्त्राः पितृमन्तो मातुरप्येवमवस्थितायाः मातुरपि सकाशादस्वतन्त्राः विभागान-धिकारिण इत्याहतुः। व्यासोऽपि—सुव्यक्तमुक्तवान्।

एकस्मिन्नपि जीवति विभागो न धर्म्यः किन्तूभयोरभावे कर्त्तव्यस्तत्।

बृहस्पतिमतेन पुत्राणां सति संख्यासाम्येन विभागो व्याकृतः। तत्र मातुरेवायं विभागो न पुत्राणामित्युद्दिश्य विभागः कर्त्तव्यः। तेनेतरमातु-र्धनस्यापि पुत्राणां मातरि जीवन्त्यां न परस्परविभागे स्वातन्त्र्यं किन्तु मातुराज्ञामवाप्य विभागो धर्म्यः।

कात्यायनस्तु रक्ष्यं बालधनमव्यवहारप्राप्ते इति वचनप्रामाण्यात्पुत्राणां विभागे पुत्र-पौत्र-प्रपौत्राणां समानः भागः। अत्रोत्पत्तिक्रमेणाधिकारक्रमो न भवति।

शंखलिखितौ च पिता-प्रपितामहश्चेति, तत्रैव प्रपितामह इत्यनेन वचसा पुत्रपदमत्र प्रपौत्रपर्यन्तं पर्यवस्यति। तेन प्रपौत्रपर्यन्तस्य श्राद्धदानेन प्रपितामहपर्यन्तोपकारकत्वात्तुल्यो दायाधिकारः। जीवत्पितृकयोः पुत्र-पौत्रयोरनधिकारः यदैकः पुत्रोऽपरस्य भ्रातुः पुत्रस्य पुत्रश्चेत्तदा तस्यैको भागः। अपरश्च बहूनां नप्तृणाञ्च पित्राधीनजन्ममूलत्वाद् धनसम्बन्धस्य तावदेव तस्य स्वामित्वमन्येषामपि तथैव। यत्र तु एकस्य भ्रातुरल्पसंख्यकाः पुत्राः सन्ति, अपरस्य बहुसंख्याकास्तत्र पित्राकृतविभाग एव स्वीकर्त्तव्यः शिष्टाचारादिति।

पितामहधने पितुर्भागकल्पना

पितामहधने पितुः कियान्भागः कस्येच्छया वा विभाग इत्याकांक्षायामत्रोच्यते—पितामहधने पितुरंशद्वयं पितुरिच्छया च विभागः स्यादिति जीमूतवाहनः।

विज्ञानेश्वरमित्रमिश्रयोर्मतेन नात्र पितुरंशद्वयं न वा केवलं विभागे पितुरिच्छा नियामिका भवतीति कल्पना। यथाहि—

भूर्या पितामहोपात्ता निबन्धो द्रव्यमेव वा।
तत्र स्यात्सदृशं स्वाम्यं पितुः पुत्रस्य चोभयोः॥[1]

इति याज्ञवल्क्यवचनेन पितापुत्रयोः समांशकीर्तनान्न विषमविभागस्य कल्पना समुद्भवति। जीमूतवाहनस्तु सदृशं स्वाम्यमिति, साम्यं नामाधिकारित्वं समं, न तु समानोंश इति व्याख्यातवान्। तथा चात्रावलोक्यते—

द्रव्ये पितामहोपात्ते स्थावरे जङ्गमे तथा।
सममंशित्वमाख्यातं पितुः पुत्रस्य चैव हि॥

इति बृहस्पतिवचनेनांशित्वं नामांशभाक्त्वं समं न पुनः पितापुत्रयोः समानांश इति व्याख्याय "स यद्येकः पुत्रः स्यादात्मनो द्वौ भागौ कुर्यादि"ति शंखलिखिताभ्यां वचनमुदिश्य यदि स पिता एकस्य पुत्रः एकपुत्रः अर्थात् स्वपितुरौरसपुत्रः स्यात्तर्हि स्वयमेव भागद्वयं गृह्णीयात्।

---

१. याज्ञवल्क्यस्मृतौ—२.११२

यदि क्षेत्रजादिरूपेण द्विपितृकस्तर्हि पुत्रैः समं सममंशं लभेतेति व्याचख्यौ। तन्मते जन्मविद्यागुणज्येष्ठो द्व्यंशं दायादवाप्नुयादिति वचसा पिता-पुत्रापेक्षया जन्मना पोषकत्वेनोत्पादकत्वेन सुमहदुपकारिकत्वेन च पुत्राणां पितामहधनप्राप्तावपि द्वारभूतत्वेन भागद्वयमवाप्तुमर्हति। सो यदा स्वभ्रात्रपेक्षयाऽपि ज्येष्ठत्वेन भागद्वयं लभते। तर्हि स्वपितृधनात् पुत्रादिभ्यः कथमंशद्वयन्न लभते। अतः पितामहधने पितुरंशद्वयं पुत्राणामेक-एकोंऽश इति सिद्धान्तः।

मित्रमिश्रेण मतमिदं निरस्यात्रोच्यते—

भूर्या पितामहोपात्ता निबन्धो द्रव्यमेव वा।
तत्र स्यात् सदृशं स्वाम्यं पितुः पुत्रस्य चोभयोः ॥[१]

वचनमिदन्न केवलं पुत्राणां पौत्राणाञ्च पितामहधनेंऽशित्वमुपकल्पति अपितु तत्र समानभागमेव स्पष्टं प्रतिपादयति। अतः पितुरंशद्वयं तत्र नास्ति।

"स यदेकः पुत्र" इति वचनस्याख्यानमन्तरेण नैतद्विषयमिति प्रतिपादयति। तन्मतेऽस्यार्थस्तु स पिता यद्येकपुत्रः एकः सर्वगुणोपेतः पुत्रो यस्य स तथाभूतः स्यात्तर्हि स्वयं पुत्रापेक्षया भागद्वयं गृह्णीयात्। अत्रैकः शब्दो ज्येष्ठवाचकः प्रसिद्धार्थः। तथा यदि च पुत्रो गुणवत्तया स्वयमेव धनार्जनं कृत्वा जीविकां प्रतिपादयितुं शक्तस्तदा तेन सह विभागे पिताऽऽत्मनो भागद्वयमुपकल्पयेत्।

मीताक्षराकारेणाचार्यविज्ञानेश्वरेणेदं वचनं नोपकल्पितमिति तन्मते नाऽस्य समादरोऽवलोक्यते।

पुत्रार्जिते धने पितुरंशकल्पना

पुत्रार्जितधनात् पितुरंशद्वयमुपकल्प्यते इति जीमूतवाहनः। कात्यायनो यथाह—

द्व्यंशहरोऽर्द्धहरो वा पुत्रवित्तार्जनात् पिता।
मातापि पितरि प्रेते पुत्रतुल्यांशभागिनी ॥[२]

अत्र पितुरंशकल्पनया कात्यायनस्येदं वचनमुपन्यस्तम्। तन्मतेऽस्याऽ-

---

१. याज्ञवल्क्यस्मृतौ—२.१२२
२. दायभागे—२.६५

यम्भावः—वित्तस्यार्जनं वित्तार्जनं पुत्रस्य वित्तार्जनं पुत्रवित्तार्जनम् तस्माद्वित्तार्जनादथवा पुत्रार्जितधनात् स्वार्जित इव पितुरंशद्वयमिति सिद्धान्तः। न च पुत्रश्च वित्तञ्चेति पुत्रवित्ते तयोरर्जनादिति। तात्पर्यन्तु यत् पितृद्रव्योपघातेन यदि पुत्रस्य वित्तार्जनं भवति तर्हि तस्मात्पुत्रार्जिताद् धनात् पितुरर्द्धमंशं भवति। अपरांशादर्जकत्वेन पुत्रांशद्वयमपरेषां भ्रातॄणामेकैकांशेऽधिकारः। पितृद्रव्यस्यानुपघातेन पुत्रस्य वित्तार्जनं स्यात्तर्हि पुत्रवित्तार्जनात् पितुः पितृत्वेनैवांशद्वयं पुत्रस्यार्जकत्वेनांशद्वयमन्येषां भ्रातॄणां नांशहरत्वमिति जीमूतवाहनस्याभिप्रायं फलति।

मित्रमिश्रमते तस्याऽयम्भावः स्फुरति। पुत्रश्च वित्तञ्च पुत्रवित्ते तयोरर्जनात् पितुरंशद्वयमुत्पद्यते। तच्चांशद्वयं स्वार्जितधने न तु पुत्रार्जितधने अर्थात् स्वार्जितधनस्य विभागकाले पिता स्वयमंशद्वयं गृहीत्वा पुत्राणामेकैकं भागांशं दद्यात्। किन्तु पुत्रर्जिते धने पुत्रस्यार्जकत्वेनांशद्वयं पितुश्च जन्मत आरभ्य पोषकत्वेनोत्पादकत्वेन पितृत्वेन चांशद्वयमिति पुत्रर्जिते धने पिता-पुत्रयोः समो विभागः स्यादिति राद्धान्तः। विज्ञानेश्वरस्तु विषयेऽस्मिन् न स्वानुमतिं प्रयच्छति। तस्मादत्रोक्त एव राद्धान्तः समादर्तव्यः।

सवर्णभ्रातृधन-विभाग-विधि

जीवति पितरि पितुरिच्छया विभागो भवेत्। स च विभागः समो विषमो वा द्विविधः। पिता यदा जेष्ठस्य विशोद्धारादिकं कृत्वा विभजेदथवा सर्वानेव समांशान् कुर्यात्। तदा जीवन्तीनामलब्धस्त्रीधनानां पत्नीनामपि तज्जातियपुत्रांशसमांशं दद्यात्। लब्धस्त्रीधनानान्तु पुत्रांशस्यार्द्धं प्रकल्पयेदिति उच्यते। अत्रार्द्धपदस्य यावतादत्तेन पुत्रसमांशो भवति तावद्दद्यादिति तात्पर्यमत्रोपलभ्यते।

पितरि प्रेते भ्रातॄणां विभागकाले यदि माता स्पष्टगर्भा स्यात्तर्हि तस्याः प्रसवकालं सम्प्रतीक्ष्य विभागो भवेत्। अस्पष्टगर्भा चेद् भ्रातृधनविभागे तेषां प्रातिस्विकेषु भागेषु तदुत्थमायंतं प्रवेश्य पितृकृतमृणमपनीयावशिष्टेभ्यः स्वेभ्यः स्वेभ्यो भागेभ्यः किञ्चित् किञ्चिदुद्धृत्य विभागान्तरजातस्य भागः स्वांशसमः कर्त्तव्य इति विज्ञानेश्वरः।

पुनश्च पितय्यूर्द्धं गते विभजद्भिः भ्रातृभ्यिःअसंस्कृता भ्रातरः दायसमुदायद्रव्येषु तत्संस्कर्त्तव्याः। याश्च भगिन्योऽसंस्कृतास्ता अपि

भ्रातृभिर्निजात् स्वांशाच्च चतुर्थमंशं प्रदाय संस्कर्त्तव्याः। यथा कस्यचिद् ब्राह्मणस्य सवर्णभार्यायां पुत्रश्चैकः कन्या चैका तत्र पित्र्यं द्रव्यं सर्वं द्विधा विभज्य ततश्च, तत्रैकं भागं चतुर्भागं विधाय तुरीयमशं कन्यायै दत्वा शेषं पुत्रः धारयेत्। यदा च द्वौ पुत्रौ एका च कन्या स्यात्तदा पितृधनस्य त्रिधा विभागस्तत एकस्य चतुर्धा विभागं कृत्वा भागद्वयं कन्यायै प्रदाय शेषं पुत्रौ गृह्णीयाताम्। एवमेव समानजातीयेषु भ्रातृषु भगिनीषु चायमेव न्याय इति योजना तत्र योजनीय इति विज्ञानेश्वरः।

जीमूतवाहनः सवर्णभ्रातॄणां समांशं दद्यादिति प्रोक्तवान्। तन्मते उद्धारानुद्धारयोरुभयोः शास्त्रीयत्वाद् विकल्पः समीचीन एव। तस्माद् भ्रातॄणामुद्धारवतुः अद्यत्तनानामभावात् समभाग एव लोके दृश्यते।

यस्तु स्वयोग्यताबलात् पितृ-पितामहार्जितं धनं नेच्छति, तस्मै तदंशात् किञ्चिद्दत्त्वा शेषमितरे विभजेयुरिति याज्ञवल्क्यवचनात्सिध्यति।[1]

"समांशहारिणी माते"ति वचनात् पितरि चोपरते सोदरभ्रातृभिर्विभागे क्रियमाणे मातापि सममशं गृह्णीयादिति समुपलभ्यते। यदि ताभिर्मातृभिः स्त्रीधनं गृहीतन्तर्हि पुत्रांशस्यार्द्धांशमेव देयम्। अत्र मातृपदस्य जननी-परत्वात् सपत्नीमातॄणां न भाग इति जीमूतवाहनः।

पुत्राणां धनविभागे पुत्रभागानुसारेण चतुस्त्रिद्वयेकभागिताऽवलोक्यते। तत्राविवाहितानां दुहितॄणामपि पुत्रभागमनुसृत्य तच्चतुर्थांशकल्पना। अयञ्च चतुर्थांशः पितुरल्पधनत्वे वेदितव्यः। बहुतरधनत्वे तु विवाहोचितं धनं दातव्यं न चतुर्थांशनियमः, कन्यापुत्रयोर्विषमसंख्यात्वे कन्याया एव बहुतरधनत्वापत्तेः पुत्रस्य वा निर्धनत्वापत्तेश्च।

यतो हि नारदवचनस्य[2] भ्रातृसंस्कारार्थत्वात् पूर्वसंस्कृतैर्भ्रातृभिर्भ्रातॄणां संस्कारः कार्य्य इति प्रकृतोऽर्थः। अपरत्र तद्वचःप्रमाणाद्[3] येषां तेषामिति पुलिङ्गनिर्देशात् भ्रातृसंस्कारार्थमेवेदं वचनं न तु भगिनीपरमिति जीमूतवाहनस्याशयः।

मित्रमिश्रस्तु विज्ञानेश्वरमतमेवाविकलं स्वीकरोति।

---

१. शक्तस्यानीहमानस्य किञ्चिद् दत्वा पृथक् क्रिया। याज्ञवल्क्यस्मृतौ—२.११७

२. अवश्यकार्याः सत्कारा भ्रातृभिः पूर्वसंस्कृतै॥ नारदस्मृतौ—१३.३४

३. कर्त्तव्या भ्रातृभिस्तेषां पैतृकादेव तद्धना॥ नारदस्मृतौ—१३.३३

असवर्णभ्रातृविभागः

ननु ब्राह्मणस्य चतुर्षु वर्णेषु, क्षत्रियस्य त्रिषु, वैश्यस्य द्वयोः, शूद्रस्य शूद्रवर्णे एव विवाहो मन्वादिभिरूपदर्शितः। तत्र ब्राह्मणेन ब्राह्मण्यामुत्पन्ना एकैकशश्चतुरश्चतुरो भागान् लभ्यन्ते। ब्राह्मणेन क्षत्रियायामुत्पन्नाः पुत्राः प्रत्येकं त्रीन् त्रीनशान्, वैश्यायामुत्पन्ना द्वौ द्वौ, शूद्रायामेकमिति विभागो व्याख्यातः।

तत्रैव क्षत्रियेण क्षत्रियायामुत्पन्नो भागत्रयं वैश्यापुत्रो भागद्वयं, शूद्रापुत्रश्चैकं भागं गृह्णीयात्। एवं वैश्यस्य वैश्यापुत्रो भागद्वयं शूद्रापुत्रश्च भागमेकं लभते। शूद्रस्य शूद्रापुत्राः समभागिनः एव, तस्य वर्णान्तरे विवाहस्य निषिद्धत्वात्।

यत् प्रतिग्रहलब्धा भूमिः क्षत्रियादिपुत्रैर्न ग्रहणीया तद्विशेषोऽयमत्र। तदि पिता स्नेहेन प्रयच्छति चेत्तदा पितरि मृते तद्धनं विप्रपुत्रो गृह्णीयात्। यथाह बृहस्पतिः—

न प्रतिग्रहभूर्देया क्षत्रियादि सुताय वै।
यद्यप्येषां पिता दद्यान्मृते विप्रसुतो हरेत्॥

ततश्च "शूद्रयां द्विजातिभिर्जातो न भूमेर्भागमर्हतीति" देवलवचनाद् ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्रापुत्रः स्थावरधनेऽधिकारी भवितुं नार्हति। यदि पिता प्रसन्नतारूपेण किमपि तस्मै प्रयच्छति तत्तस्यैव धनमिति विज्ञेयम्। यदि प्रसाददानं नास्ति तदा तस्य एकांशभागित्वमेव सिद्धयति। अत्र मनुवचनमेव प्रमाणम्।[1]

जीमूतवाहनमतानुसारेण ब्राह्मणजातः क्षत्रियापुत्र एव यदि स्याज्जन्मना ज्येष्ठो गुणवांश्च तदा ब्राह्मणेन सह तस्यापि तुल्यभागो व्याख्यायते। ब्राह्मणेन क्षत्रियेण वा जातो वैश्यश्च तद्रूपश्चेत्तदा क्षत्रियेण सह तुल्यांशौ भवतः।

एवमेव शूद्रस्यापि वैश्येन सह समांशित्वं दर्शितमुपलभ्यते। गृहं धनं वनं पितामहादिक्रमागतं क्षेत्रञ्च द्विजातिपुत्राणामेव न शूद्रस्य तत्राधिकारो जायते। अस्मात् क्रयप्रसादादिनापि द्विजातिलब्धभूमौ शूद्रस्यानधिकार आपद्यते। यत्र शूद्रस्त्वेक एव पुत्रो ब्राह्मणस्य, तदा स तृतीयांशभाक्

---

१. नाधिकं दशमाद् दद्याच्छूद्रपुत्राय कर्हिचित्। मनुस्मृतौ ९.१५३

भवति । भागद्वयमपरं सपिण्डानां तदभावे सकुल्यानां तदभावे श्राद्धकर्त्तुरेव स्यादिति नियमोऽवलोक्यते ।

क्षत्रियवैश्ययोस्तु यदि शूद्र एवैकः पुत्रस्तदा तद्धनस्यार्द्धहरो विज्ञायते । एकमात्रशूद्रापुत्रस्य ब्राह्मणधनात्तृतीयभागाधिकारित्वं, क्षत्रिस्य वैश्ययोरर्द्धहरत्वञ्च विद्याविनयसम्पन्नत्वे सति वेदितव्यमिति शास्त्रनिश्चयः ।

अत्र मनुवचनानुसारेण[1] द्विजातिपुत्राभावेऽपि शूद्रस्य दशमांशभागित्वं भवत्येव । तत्रैव ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशां शूद्रापुत्रा न रिक्थभागितिवचनेन शूद्रापुत्रस्य रिक्थाधिकाराभावेऽपि यदेवास्य पिता दद्यादिति पितृप्रसादलब्धधनेऽपि दशमांशत्वमेव वेदितव्यम् । शूद्रस्याऽविवाहितः शूद्रापुत्रः पितुरनुमत्या पुत्रान्तरतुल्यांशहरो भवति । अननुमत्यात्वर्द्धांशहर एव । अपरिणीतापुत्रः अभ्रातृकश्चेद् दौहित्रभावे सर्वं धनं गृह्णीयात् । सति दौहित्रे समं विभज्य गृह्णीयादिति जीमूतवाहनसिद्धान्तः ।

अत्र विषये मित्रमिश्र-विज्ञानेश्वरयोर्मतमैक्यमावहति । अतोऽत्र तयोर्मतन्नोपस्थाप्यते ।

द्वादशपुत्राणां निर्देशस्तथा तत्रौरसादिपुत्राणां भागकल्पना

देवलप्रभृतीनां स्मृतिकाराणां मते द्वादशपुत्राः समर्यन्ते । तत्र द्वादशविधेयु पुत्रेषु औरसपुत्रो मुख्यः । अन्येषां कामजत्वाद् गौणत्वमिति । ते पुत्रास्तु औरस-पुत्रिकापुत्र-क्षेत्रज-गूढज-कानीन-पौनर्भव-दत्त-क्रीत-कृत्रिम-स्वयंदत्त-सहोढोपविद्धाख्याः ख्यायन्ते । "एक एवौरसः पुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुरिति"[2] मनोर्वचसा औरसस्य दाये मुख्याधिकारित्वेऽपि तदनुकूलानां गुणवताञ्चान्येषां क्षेत्रजादीनां कश्चन भागः कल्पितः तत्रायम्भावः—

क्षेत्रजपुत्रो निर्गुणः सन् यद्यौरसस्य प्रतिकूलो भवति, तर्हि पित्र्यस्य धनस्य षष्ठांशं निर्गुणत्वप्रातिकूल्ययोरेकतरसद्भावे पञ्चमांशमिति विवेचनीयम् । द्वादशपुत्रेषु पूर्वे षट्पुत्राः दायहरा, अपरे षट् च केवलं ग्रासाच्छा-

---

१. यद्यपि स्यात्तु सत्पुत्रो यद्यपुत्रोऽपि वा भवेत् ।
नाधिकं दशमाद् दद्यात् शूद्रपुत्राय धर्मतः ॥

—मनुस्मृतौ ९.१५४

२. मनुस्मृतौ ९.१६३

दनभागिनो भवन्तीति व्याख्यातः।[1] पूर्वेषु षट्स्वपि प्राधान्यस्यौरसस्यैव धर्मजत्वात्तदधिकारो वक्ष्यते। पुत्रिकापुत्रस्त्वौरससम एवाख्यायते।

पुत्रिकायां कृतायान्तु यदि पुत्रो नु जायते।
समस्तत्र विभागः स्याद् ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः ॥[2]

एवञ्चान्येषां क्षेत्रजादीनां पूर्वपूर्वाभावे चतुर्थांशभागित्त्वमङ्गीक्रियते। अथवा सत्यौरसपुत्रे क्षेत्रजदत्तकादिसवर्णपुत्राश्चचतुर्थांशहरा भवन्ति। कानीनादयश्च केवलं ग्रासाच्छादनभागिन इति विज्ञानेश्वरः।

जीमूतवाहनमते त्वौरसेन सह क्षेत्रजादीनां विभागे ये पितृसवर्णा औरसपुत्राच्चोत्तमवर्णाः पुत्रिकापुत्र-क्षेत्रज-कानीन-गूढजो-पविद्ध-सहोढज-पौनर्भव-दत्तक-स्वयमुपागत-कृतक-क्रीताः पुत्रास्ते औरसपुत्रभागस्य तृतीयांशभागिनो भवन्ति। औरसपुत्राभावे त्वेतेषु अन्यतमः सर्वं ग्रहीतुमर्हति। ये तु पितुर्हीनवर्णा औरसपुत्राश्चोत्तमवर्णास्ते तस्य पञ्चमं षष्ठं वांशं सगुणनिगुणत्वभेदादाकलितुं प्रभवन्ति। अनियोगादुत्पन्नः क्षेत्रजस्तु यस्य बीजाज्जातस्तस्यैव धनमादद्यान्नेतरस्येति जीमूतवाहनराद्धान्तः।

मित्रमिश्रो हारीतवचनमुदाहृत्य कानीनपौनर्भवयोर्बन्धुदायादमध्ये परिगणनात्तस्य मन्वादिभिर्विरोधात् सवर्णादिभेदेन देशाचारभेदेन वा विरोधः परिहरणीय इति निर्धारयति। अन्यत्सर्वमत्रौरसादीनां विषये मीताक्षराकारमतानुगतमिति प्रतीयते।

अप्रजःपुंधनहराः के ?

अत्र प्रथमं पत्न्या अधिकारः। अप्रजःपुंशब्दार्थस्तु औरसादयो द्वादशपुत्रा यस्य न सन्ति सोऽपुत्रपुं इति। तस्यापुत्रस्य मृतस्य धनं के लब्धाधिकारा इति वक्ष्यते।

---

१. औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च।
गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा बान्धवाश्च षट् ॥
कानीनश्च सहोढश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथा।
स्वयंदत्तश्च शौद्रश्च षडदायादबान्धवाः ॥
—मनुस्मृतौ ९.१५९-१६०

२. मनुस्मृतौ ९.१३४

पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तथा ।
तत्सुतो गोत्रजो बन्धुः शिष्यः स ब्रह्मचारिणः ॥
एषामभावे पूर्वस्य धनभागुत्तरोत्तरः ।
स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य सर्ववर्णेष्वयं विधिः ॥[1]

इति योगीश्वरवचः प्रमाणेन प्रथमं तावद् विवाहसंस्कृता पत्नी धनाधिकारी । पत्न्यो बह्व्यश्चेद् दायमंशं विभज्य स्वांशं गृह्णीयुः । "अपुत्रा शयनं भर्त्तुः पालयन्ती व्रते स्थिते" इति बृद्धमनुवचनादपुत्रायाः पतिव्रतायाः पत्न्या एव समग्रधनहारित्वं पिण्डप्रदत्त्वञ्च प्रतिपादितम् ।

वृद्धविष्णु[2]कात्यायन[3]-वृद्धबृहस्पतिवचनान्यपि अपुत्रधनस्य रिक्थं प्रथमं पत्नीगामित्वं प्रतिपादयन्ति । ततोऽन्येषु पितृभ्रात्रादिषु सत्स्वप्यपुत्रधनस्य पत्न्येव प्रथममधिकारिणीति विज्ञानेश्वर-जीमूतवाहनमित्रमिश्राणामैकमत्यम् ।

जीमूतवाहनमित्रमिश्रयोर्नयेऽपुत्रपदं पुत्रादित्रिकाभावपरम् । वस्तुतस्तु पुत्राभावः पौत्राद्यभावबोधक एव । शङ्कितव्यभिचारायाः पत्न्यास्तु दायहरणं नोपजायते । ग्रासाच्छादनमात्रं तु सा लभते । अत्र हारीतवचनमेव प्रमाणम्—

विधवा यौवनस्था चेन्नारी भवति कर्कशा ।
आयुषः क्षपणार्थन्तु दातव्यं जीवनन्तथा ॥

तस्मादपुत्रस्य स्वर्यातस्य विभक्तस्यासंसृष्टिनो धनं परिणीता स्त्री संयता सती सकलद्रव्यमेव गृह्णीयात् । या पत्नी कर्कशा वा यौवनस्था वा शङ्कितव्यभिचारा सा ग्रासाच्छादनं लभते या पत्नी न भवति, अपितु भुजिष्यादिः, सा ग्रासाच्छादनमात्रं लभते इति विज्ञानेश्वरसिद्धान्तः ।

जीमूतवाहनमते पत्नीषु प्रथमं सवर्णा तदभावेऽसवर्णेति, तत्र वर्णक्रमेणाधिकारमुपलभते । यथा ब्राह्मणस्य प्रथमं ब्राह्मणी । तदभावे क्षत्रिया । तदभावे वैश्या । एवञ्च द्विजातिषु शूद्रापरिणयस्य निषिद्धत्वात् शूद्राभार्यायाः धनाधिकारो नास्त्येव ।

---

१. याज्ञवल्क्यस्मृतौ—२.१३५-१३६

२. अपुत्रधनं पत्न्यधिगामि तदभावे दुहितृगामि तदभावे पितृगामि तदभावे मातृगामीति । मिताक्षरायाम्—पृष्ठ १९०

३. पत्नी पत्युर्धनहरी यास्स्यादव्यभिचारिणी ।
तदभावे तु दुहिता यद्यनूढा भवेत्तदा ॥ —मनुस्मृतौ पृष्ठ २९०

मित्रमिश्रास्तु प्रपौत्रपर्यन्ताभावे पत्नी एव इति व्याकुर्वन्ति। सा च प्राप्तभर्त्तुदाया भर्तृकुलं तदभावे पितृकुलं वा समाश्रिता सती शरीररक्षार्थं भर्त्तुर्दायं भुञ्जीत। अथ च भर्त्तुरुपकारार्थं यथाकथञ्चिद् दानादिकमपि कुर्वीत।

दुहितॄणां भागकल्पना

पत्न्यभावे दुहितरोऽशं गृह्णीयुः। दुहितर इति बहुवचनं समानजातियानामसमानजातियानाञ्च समविषमांशप्राप्त्यर्थमुच्यते। यथाह्यत्र बृहस्पतिः—

पत्नी भर्त्तुधनहरी या स्याद्व्यभिचारिणी।[1]
तदभावे तु दुहिता यद्यनूढा भवेत्तदा॥

"अङ्गादङ्गात् सम्भवती"ति मनुवचनाच्च पत्न्यभावे दुहितृणामेवाधिकार आपद्यते। अतः सर्वासु दुहितृषु प्रथममनूढा एव धनाधिकारिणी। तदभावे चोढा धनभाग्भवति। ऊढास्वपि प्रतिष्ठिताऽप्रतिष्ठितासमवाये प्रथममप्रतिष्ठितैव। तदभावे प्रतिष्ठिता स्यात्। स्त्रीधनं दुहितॄणामप्रत्तानामप्रतिष्ठितानाञ्चेति गौतमः।[2] दुहितॄणामभावे दौहित्रो धनाधिकारं लभते। अपुत्रपौत्रसन्ताने दुहित्रा धनमाप्नुयुरिति वचनाद् विज्ञानेश्वराभिप्रायं समुद्गच्छति।

जीमूतवाहनमते दुहितृषु प्रथममनूढा, तदभावे ऊढा। ऊढासु पुत्रवती सम्भावितपुत्रा च तदभावे वन्ध्या विधवादिविपर्य्यस्तपुत्राः पितृरिक्थमाप्नुवन्तु। सवर्णाऽसवर्णोढानां दुहितॄणां समवाये प्रथमन्तु सवर्णोढैव लब्धुमर्हत्यंशम्।

पत्न्यभावे दुहिता। तत्र प्रथमं कुमारी। तदभावे वाऽदत्ता, तदभावे वोढा। ऊढासु च पुत्रवती, सम्भावितपुत्रा च द्वे युगपदेव धनाधिकारिण्यौ भवतः। वन्ध्या विधवा वा दायमंशहरणे नाधिकारिणीति प्रतिपादयति मित्रमिश्रः।

पित्रोर्भागकल्पना

दुहित्रभावे पितरौ धनभाजौ। पितरावित्यत्र माता च पिता चेत्येकशेषसमासेन प्रथमैव मातृशब्दस्योपादानात् पुत्रापेक्षया मातुरेव प्रत्या-

---

१. बृहस्पति—६.१४

२. गौतमधर्मसूत्रम्—२९.६

सत्त्यातिशयात् मातुरेव प्रथमं धनग्रहणं युक्तम्[1] तद्भावे पिता गृह्णीयादिति विज्ञानेश्वराभिप्रायमुपतिष्ठते ।

पुत्रे जनन्यपेक्षया जनकस्य प्रत्यासत्त्याधिक्यात् प्रथमं पिता, ततो माता गृह्णीयादिति जीमूतवाहनमतं विद्यते । तन्मते प्रथमतस्तु पितुरेवाधिकारस्स्यात् । ततश्च मातुरधिकारः प्रसज्यते ।

मित्रमिश्रमते वृत्त्यादिसंविधानमकुर्वतः पितुरपेक्षया मातुरेवाधिकोपकारकत्वाद् धनग्रह्णाधिकारोऽभिव्यञ्ज्यते । वृत्त्यादिसंविधानकर्त्तुस्तु पितुः प्रथमं प्रथमधनग्रहणमिति सिद्धान्तः परिस्फुटति ।

भ्रातॄणां भागकल्पना

पित्रोरभावे भ्रातरो धनभाजो जायन्ते । भ्रातृषु सोदराः प्रथमं गृह्णीयुः भिन्नोदराणां मातृविप्रकर्षादिति । अनन्तरसपिण्डाद्यस्तस्य तस्य तद् धनं भवेदिति वचनात्[2] । अतः सोदरभ्रातॄणामभावे भिन्नोदराणामधिकारो अपि लक्ष्यते । अत्र जीमूतवाहन-विज्ञानेश्वर-मित्रमिश्राणामैकमत्यमुपलभ्यते ।

भ्रातृपुत्राणां भागनिर्धारणम्

पुत्राणामभावे भ्रातृपुत्रा धनाधिकारिणो भवन्ति । तत्रादौ सोदरभ्रातृपुत्राणामादावधिकारस्तदभावे भिन्नोदरभ्रातृपुत्राणामिति जीमूतवाहन-मित्रमिश्रौ । विज्ञानेश्वरमते सोदरभ्रातृपुत्रादिसत्वे भिन्नोदरभ्रातृवंश्याः दायन्नार्हन्ति, अनन्तरः सपिण्डाद्यस्य तद् धनं तस्यैव भवेदित्यादिनिर्देशात् ।

सपिण्डाः के ? तत्राप्यंशकल्पना

भ्रातृपुत्राणामभावे गोत्रजा धनभाजो भवन्ति । गोत्रजाः पितामहाद्यन्वयाः, तदभावे प्रपितामहाद्यन्वयाः सपिण्डाः स्मर्यन्ते । तत्रादौ पितामही धनाधिकारी, तदभावे समानगोत्रजाः सपिण्डाः पितामहादयो धनभाजो भवन्ति । जीमूतवाहन-मित्रमिश्रयोर्मते प्रथमं पितामहस्ततः पितामहीति विशेषो शास्त्रनियमः । पितामहसन्तानाभावे प्रपितामहान्वय इत्येवमासप्रमात् वंश्याः समानगोत्राणां सपिण्डानां धनग्राहकाः वेदितव्याः ।

अत्र प्रसङ्गे सापिण्ड्यं सप्तमपुरुषावधीतिविज्ञानेश्वरसम्मतमुपलभ्यते ।

---

१. सहस्रन्तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते । मनुस्मृतौ—२.१४५

२. मनुस्मृतौ—९.१८७

जीमूतवाहन-मिश्रमिश्रयोर्मते दायग्रहणे सापिण्ड्यं प्रपौत्रपर्यन्तमिति विशेषो नियमः। गोत्रजशब्दात् प्रपितामह्यादीनां गोत्रजत्वाभावाद् दायहरत्वं नास्ति, प्रथमं पितामहस्तदभावे पितामहीति क्रमो जीमूतवाहनोक्तमवाप्यते। मित्रमिश्रस्तु यत्र पितापुत्राणां कृते स्थावरसम्पत्तौ स्वत्वमुपकल्पयति तत्र पिता प्राथम्यं भजते। यत्र वा माता भूयस्युपकारिणी तत्र तस्या एव प्राथम्यं संगमनीयम्।

बान्धवानां स्वत्वाधिकारः

दुहितृ-पितृ-भ्रातृ-भ्रातृपुत्र-सपिण्डादीनामभावे बान्धवाः धनभाजो भवन्ति। बान्धवास्त्रिविधाः। आत्मबान्धवः, पितृबान्धवा, मातृबान्धवश्चेति। तत्रात्मबान्धवास्तु—आत्मपितृष्वसुर्मातृष्वसुर्मातुलस्य च पुत्राः गृह्यन्ते। तदभावे पितुः पितृष्वसुर्मातृष्वसुमातुलस्य च सुताः पितृबान्धवो तदंशं गृह्णीयुः। तदभावे मातुः पितृष्वसुर्मातुष्वसुर्मातुलस्य च पुत्राः मातृबान्धवो वा तत्रांशं लभन्ते। अनेन परिज्ञायते सपिण्डादीनामभावे बाधवानां स्थानमवलोक्यते। तस्मात्तेषामेव दायांशे भागो भवेदिति सर्वं सम्मतं राद्धान्तमुपतिष्ठते।

आचार्यादयोरंशकल्पना

बन्धूनामप्यभावे आचार्यो धनभाग्भवति। तदभावे शिष्यस्तदभावे च ब्रह्मचारी धनाधिकारी। तदभावे ब्राह्मणाः। यथाहि मनुः—

सर्वेषामप्यभावे तु ब्राह्मणा रिक्थहारिणः।
त्रैविद्याः शुचयो दान्ता एवं धर्मो न हीयते॥[१]

अत्र जीमूतवाहनस्ते ब्राह्मणाः समग्रामाः बोधव्याः इत्यवोचत्। ब्राह्मणानामभावे ब्राह्मणधनवर्ज्यं क्षत्रियवैश्यशूद्रादीनां धनं राजा गृह्णीयादिति। ब्राह्मणधनन्तु ब्राह्मणमात्रगोचरम्। तत्तु राजगामीति न ब्राह्मणभोग्यमेव स्यादिति।

अप्रजः पुंधनाधिकारीणां क्रमनिर्देशः

अप्रजः पुंधनं प्रथमं परिणीता संयता पत्नी; तदभावेऽनूढाऽप्रतिष्ठिता, प्रतिष्ठितोढा-दौहित्रः; माता-पिता-सोदराः भ्रातरो भिन्नोदराः भ्रातरो, भ्रातृपुत्रा-पितामही-पितामह-पितृव्यास्तत्पुत्राः पौत्रा; आसप्तमात्सपिण्डा-

१. मनुस्मृतौ—९.१८२

त्समानोदका-आत्मबान्धवाः पितृबान्धवाः मातृबान्धवा आचार्य्यः शिष्यः सब्रह्मचारी वा गृह्णीयात्। तदभावे ब्राह्मणधनन्तु श्रोत्रियस्तदभावे यः कश्चिद् ब्राह्मणो गृह्णीयात्। क्षत्रियादिधनन्तु राजा गृह्णीयादिति नियमो विज्ञानेश्वरोक्तमुपलभ्यते।

जीमूतवाहनस्तु सब्रह्मचार्य्यभावे सगोत्रास्तदभावे समानप्रवरास्तदभावे च ब्राह्मणाः गृह्णीयुः। एतेषां सगोत्रादीनां तद्ग्रामवासिनामेव धनग्रहणेऽधिकारो जायते। सर्वेषामभावे ब्राह्मणधनं ब्राह्मणाः, इतरवर्णानान्तु राजा गृह्णीयादिति व्यवस्थाक्रमः।

मित्रमिश्रस्यापीदमेवमतमुपलभ्यते। सम्बन्धीनामभावे ब्राह्मणधनवर्ज्यं धनं राजा गृह्णीयाद्; ब्राह्मणधनन्तु त्रैविद्यादिगुणयुक्ता ब्राह्मणा गृह्णीयुरिति समादेशोऽवाप्यते।

वानप्रस्थिनो धनमेकतिर्थो (अपरवानप्रस्थः) यतिधनं सत्शिष्यः नैष्ठिकब्रह्मचारिणो धनमाचार्य्यो गृह्णीयादिति सर्वेषामैकमत्यमुलभ्यते।

संसृष्ठिधनविभागकल्पना

विभक्तं धनं पुनर्मिश्रितं संसृष्टमुच्यते, तदस्यास्तीति संसृष्टी। संसृष्टत्वञ्च पित्रा भ्रात्रा पितृव्येण वा युक्तो न येन केनापि सहापि वा सहभावं भजते। बृहस्पतिनोक्तमत्र—

विभक्तो यः पुनः पित्रा भ्रात्रा चैकत्र संस्थितः।
पितृव्येणाथवा प्रीत्या स तत्संसृष्ट उच्यते॥

एवम्भूतस्य संसृष्टिनोऽनपत्यस्य धनं सत्यामपि पत्न्यां संसृष्टी भ्राता एव गृह्णीयादिति विज्ञानेश्वरः। पत्नी सत्वे सैव गृह्णीयादिति, नतु भुजिष्यादिस्त्रिय इति जीमूतवाहनः। भ्रातृषु पुनः सोदरस्य संसृष्टिनो धनं सोदरसंसृष्ट्येव गृह्णाति। तदभावे भिन्नोदरसंसृष्टी।[1] तदभावे बान्धवास्तद्धनमाचाराल्लभन्ते।

अन्योदर्य्यस्तु संसृष्टी नान्योदर्य्यो धनं हरेत्।
असंसृष्टचापि वाऽऽदद्यात् संसृष्टो नान्यमातृज॥[2]

इति याज्ञवल्क्यवचनात् संसृष्टो नान्यमातृज इति निषेधादसंसृष्टभिन्नो-

---

१. संसृष्ठिनस्तु संसृष्टी सोदरस्य तु सोदरः।—याज्ञवल्क्यस्मृतौ = २.१३८
२. याज्ञवल्क्यस्मृतौ—२.१३९

दरस्य च विभज्य धनग्रहणं कर्त्तव्यमिति विज्ञानेश्वरः। जीमूतवाहन—मित्रमिश्रयोरपीदमेव मतमुपलभ्यते।

विशेषतस्तु संसृष्टिधनहारकेण तत् स्त्रियः परिपालनीयाः। तत्कन्याश्चाऽविवाहात् पोषणीयास्ततः संस्कर्त्तव्याश्चेति शंखलिखितादिवचनानुरोधेन मित्रमिश्रेण सुस्पष्टमुच्यते।

स्त्रीधननिरूपणम्

अत्र स्त्रीधनपदं यौगिकन्न तु पारिभाषिकं, यतो हि योगसम्भवे परिभाषाया अयुक्तत्वात्। अतएव स्त्रोस्वामिकं धनं स्त्रीधनमिति विज्ञानेश्वरः।

अध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तञ्च प्रीतिकर्मणि।
भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम्॥[1]

मनूक्तमनुश्रित्य स्त्रीधनस्य यत् षड्विधित्वमुक्तं तन्न्यूनसंख्याव्युदासार्थं नाधिकसंख्याव्यवच्छेदाय। यतो हि षडतिरिक्तान्यन्वाधेयाधिवेदनिकादीति स्त्रीधनानि स्मृतिकारान्तरैः प्रदर्शितानि विद्यन्ते। जीमूतवाहनमते स्त्रीधनशब्दः पारिभाषिकः। न तु यौगिकः, कथमिति चेदुच्यते स्त्रीया धनं स्त्रीधनमित्यन्वये व्युत्पत्तिकृते स्त्रियाः स्वार्जितेऽपि धने स्वत्त्वाधिकारो जायते।

भार्य्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः॥
यत्ते समधिगच्छन्ति यस्यैते तस्य तद्धनम्॥[2]

इति मनोर्वचः प्रमाणेन स्त्रिया अस्वातन्त्र्यादनधिकारः। अतएव स्त्रिया धनंन स्त्रीधनम्। किन्तु—

पितृमातृसुतभ्रातृदत्तमध्यग्न्युपागतम्।
आधिवेदनिकं बन्धुदत्तं शुल्कान्वाधेयकम्॥[3]

एतेन धनविशेषे स्त्रीधनं पारिभाषिकरूपेणाभिदधाति। मनु[4] नारद[5] कात्यायनमतान्युद्धृत्य स्त्रीधनस्य षड्विधत्वे षट्-संख्या न विवक्षिता, परन्तु स्त्रीधनकीर्त्तनमात्रपराणि तानि वचनानीति प्रतिपादितान्यवलोक्यन्ते।

स्त्रीधनशब्दो यौगिक इति मित्रमिश्रः। तत्र स्त्रीस्वामिकं धनं स्त्रीधनमिति व्यवहारस्तस्मान्नायं पारिभाषिकः शब्दः। योगसम्बन्धे परिभा-

---

१. मनुस्मृतौ—९.१९४ २. मनुस्मृतौ—८.४१६ ३. विष्णुस्मृतौ—१७-१८
४. मनुस्मृतौ—९.१९४ ५. नारदस्मृतौ—१३.१८

षायामन्याय्यत्वात् । शिल्पादिप्राप्तधने स्त्रिया धनमुपाधियोगवशात् प्राप्तं धनं न स्त्रीधनमिति तत्र स्त्रिया स्वामित्वाभावात् तद्भर्त्तुरेव स्वामित्वाच्च । अतस्तन्न स्त्रीधनम् । मन्वादिवचनेषु षड्विधं स्त्रीधनमित्यत्र षड्विधोक्तः न्यूनसंख्यानिरासार्था न तु षड्विधसंख्यावारणार्थेत्याह—

स्त्रीधनविभागक्रमः

मातरि मृतायां स्त्रीधनं प्रथमं दुहितरः गृह्णीयुः । तत्र दुहितृषु ऊढाऽनूढासमवाये प्रथममनूढैव धनं गृह्णाति । तदभावे चोढा । ऊढास्त्रपि प्रतिष्ठिताऽप्रतिष्ठितासमवाये अप्रतिष्ठिता (अपुत्रा निर्धना च) प्रथमं धनाधिकारिणी । तदभावे प्रतिष्ठितेति विज्ञानेश्वरमतम् ।

सर्वासां दुहितॄणामभावे "दुहितॄणां प्रसूता ये[1] इति वचनात् दुहितृदुहितरः अर्थात् दौहित्र्यो धनभाजः । दुहितृदौहित्रीणां समवाये दौहित्रीणां किञ्चिदेव दातव्यम् । दौहित्रीणामप्यभावे दौहित्रा धनहारिणः । "मातुर्दुहितरोऽभावे दुहितॄणां तदन्वय[2] । इति नारदवचनाद् दौहित्राणामभावे पुत्राः धनं गृह्णन्ति । पुत्राणामभावे पौत्रादयो रिक्थभाजो जायन्ते ।

जीमूतवाहनमते—

जनन्यां संस्थितायान्तु समं सर्वे सहोदराः ।
भजेरन् मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः ॥[3]

इति मनुवचनात् मातरि वृत्तायां सर्वे सहोदराः भ्रातरो भगिन्यश्च मातृकं रिक्थं समं विभजेरन्नित्यत्र पुत्रकुमारी दुहितॄणां तुल्यवदधिकारः प्रत्यूहः । एतयोश्चैकतराभावे धनमेकतरस्य भवति । द्वयोरप्यभावे तु प्रथममूढायाः पुत्रवत्याः । तदभावे सम्भावितपुत्रायाः स्वाधिकारः । स्वपुत्रद्वारेण पार्वणपिण्डदानसम्भवात् । अतो दुहित्रभावे दौहित्रोऽपि धनभाग् भवति ।

मातुः स्त्रीधनेषु यत् यौतकं धनमर्थात् विवाहकाललब्धं तत् कुमारी-

---

विवाहकाले यत्तत् स्त्रिभ्यो दीयते ह्यग्निसन्निधौ ।
तदध्यग्निकृतं सद्भिः स्त्रीधनं परिकीर्तितम् ॥—कात्यायनस्मृतौ ४.२०

१. याज्ञवल्क्यस्मृतौ—२.१४५

२. नारदस्मृतौ—१३.२

३. मनुस्मृतौ—९.१९२

णामेव। "मातुस्तु यौतकं[1] यत्स्यात् कुमारीभाग एव सः"[2] इति मनूक्तत्वात्।

कुमारीणामभावे विवाहितानाम्। तासु प्राथम्यं केवलं प्रत्तानाम्। तदभावे परिणीतानाम् स्वामिगृहगतानाम्। सर्वदुहित्रभावे च पुत्राणामधिकारः। पुत्राणामभावे दौहित्री तदभावे धनभाग् भवति।

उभयत्र सन्निवेशे मित्रमिश्रस्तु—

मातरि वृत्तायां तस्याः स्त्रीधनेषु अन्वाधेय-पतिप्रीतिदायधनद्वयं पुत्राः कन्याः अविवाहिताः दुहितरश्च मिलित्वा समं विभजेरन्। कन्यानामभावे विवहिता भगिन्यपि भ्रातृसमांशं गृह्णीयात्। किन्तु दौहित्रीभ्योऽपि दारिद्र्याद्यपेक्षया ऊनाधिकभावेन किञ्चिद्देयम्। यौतकरूपं मातुः स्त्रीधनं कुमारीणामेव न पुत्राणां न तु वा प्रदत्तदुहितॄणाम्। एतत् त्रिविधभिन्नमातृधनं दुहितॄणाम्। तत्रादौ अप्रत्तानाम्। तदभावे प्रत्तानाम्। तत्रापि प्रथम प्रतिष्ठितानां तदभावे प्रतिष्ठितानां सधवानाम्। तदभावे विधवानामिति क्रमो वेदितव्यः। तदभावे दौहित्री, तदभावे दौहित्रः, तदभावे च पुत्राः धनहारिणो भवन्ति।

अप्रजः स्त्रीधनहराः के ?

अनपत्यायां स्त्रियां मृतायां तस्याः स्त्रीधनं बान्धवाः गृह्णीयुः। तत्र ब्राह्मादिचतुर्षु विवाहेषु प्रथमं भर्त्ता, तदभावे प्रत्यासन्नाः सपिण्डाः धनभाजो भवन्ति। आसुरगान्धर्वादिषु विवाहेषु तदप्रजः स्त्रीधनं पितृगामि भवति। पितृगामीत्यत्र माता च पिता च पितरौ, तौ गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति वा पितृगामि। अत्रैकशेषनिर्दिष्टाया अपि मातुः प्रथमं धनग्रहणं पूर्वमेवोक्तम्। तदभावे तत्प्रत्यासन्नानां धनग्रहणमिति विज्ञानेश्वरः।

---

१. यौतकमिति—मिश्रणार्थकयुत धातोरिति पदं मिश्रतावचनम्। मिश्रता च स्त्रीपुरुषयोरेकशरीरता। विवाहाच्च तद्भवति। अत्र श्रुति प्रा माण्यात् विवाहलब्धधनमेव यौतकं धनमिति जीमूतवाहनः। "यु मिश्रण इति धातोर्विवाहकाले युतयोरेकासनोपविष्टयोर्वधूवरयोर्बान्धवैर्यद् दीयते तद् युतयोरिदमिति व्युत्पत्त्या यौतकमित्युच्यते। युतयोर्यौतकमिति निघण्टुकारोऽपि वदति। यौतकं यौतुकमितिकोशात् संज्ञान्तरं पठ्यते इति मित्रमिश्रः।

२. मनुस्मृतौ—९.१३१

अन्यमतेऽप्रजः स्त्रीधनं ब्राह्मादिगान्धर्वान्तपञ्चविवाहेषु भर्तृगामि। भर्त्रभावे प्रथमं देवरः (भर्त्तुः कनीयान् भ्राता) तत्पिण्ड-तद्भर्त्तृपिण्ड—तद्भर्त्तृदेयपूर्वत्रिपुरुषपिण्डदात्तृत्वात्। तदभावे तद्भर्त्तुर्भ्रातृसुतस्तद्भावे स्वभगिनीपुत्रः मातृष्वसुर्धनेऽधिकारी। तदभावे स्वभर्त्तुर्भागिनेयः मातुलानीधनेऽधिकारिणो भवन्ति। तदभावे भ्रातृपुत्रः। तस्याप्यभावे श्वसुरयोः पिण्डदानात् जामाता धनाधिकारी भवति। आसुरादिषु त्रिषु पितृगामीत्यतिगहनमप्रजः स्त्रीधनमिति जीमूतवाहनः।

मित्रमिश्रमतेऽतीतायां रजसि (अप्रजसि) बान्धवास्तद्धनमावाप्नुयुः[1] इति याज्ञवल्क्यवचसा ब्राह्मादिषु चतुर्षु विवाहेषु भर्त्तृगामित्त्वं स्त्रीधनमिति। आसुरादिषु त्रिषु च पितृगामीति। तत्र ब्राह्मादिविवाहेन विवाहितानां स्त्रीणां यावद्धनं गृह्यते न पुनस्तद् विवाहलब्धधनमेव। बन्धुदत्तन्तु बन्धूनामभावे भर्त्तृगामि भवति इति कात्यायनः।

अतः पूर्वोक्तानामभावे सत्सु श्वशुरादिषु मातृष्वस्रादिधनं भगिनीपुत्रादयो गृह्णीयुः। यथाहि—

मातृष्वसा - मातुलानी- पितृव्यस्त्री-पितृष्वसा।
श्वश्रूः पूर्वजपत्नी च मातृतुल्या प्रकीर्तिताः॥
यदासामौरसो न स्यात्सुतो दौहित्र एव वा।
तत्सुतो वा धनं तासां स्वस्त्रियाद्याः समाप्नुयुः॥

इत्यत्र बृहस्पतिवचसा[2] स्वस्त्रियाद्याः धनं समाप्नुयुरिति फलति। स्नुषादीनान्तु ग्रासाच्छादनमात्रं न तु धनाधिकार इति मित्रमिश्रः। एतेन परिज्ञायते स्नुषादीनामंशन्नोपजायते अपितु तत्कृते केवलन्तावदेव धनं दायो भवति येन तस्याःग्रासनाच्छादनादिकञ्च यथा स्यात्तथेति।

विभागानन्तरजातानामंशविभागाः

विभक्तेषु पुत्रेषु पश्चात्सवर्णायां जातः पित्रोरूद्ध्वं तयोरंशं लभते। सत्यां दुहितरि केवलं पित्र्यमंशं लभते। ऊद्ध्वं विभागाज्जातस्तु पित्र्यमेव हरेद्धनमिति मनुवचनात्।[3] असवर्णायाञ्जातस्तु स्वांशमेव पित्र्याल्लभते। न तु विषमांशमिति।

---

१. याज्ञवल्क्यस्मृतौ—२.१४४

२. बृहस्पतिस्मृतौ उद्धृतो वीरमित्रोदये—पृष्ठ—७०४

३. मनुस्मृतौ—९.२१६

अपि च विभागोत्तरकालं पित्रा यत् किञ्चिदर्जितं तत्सर्वं विभक्तजस्यैव पुत्रस्य भवति। ये च विभक्ताः सन्तः पित्रासह संसृष्टाः पितुरुद्ध्वं तैः सार्द्धं विभक्तजोऽपि धनं विभजेत्।

मृते पितरि अस्पष्टगर्भायां मातरि विभागे कृते पश्चाज्जातं भ्रातरं सर्वे भ्रातरः स्वेभ्यः स्वेभ्योंऽशेभ्यः किञ्चित् किञ्चिदुद्धृत्य स्वभागसम-भागिकं कुर्युरिति विज्ञानेश्वरः। तन्मते विभागान्तरजातो विभक्तज इति विभक्तेन पित्रा जातो विभक्तजो वेति जीमूतवाहनः। एतेन विभागानन्तरं यस्य गर्भाधानः स विभक्तज इति जीमूतवाहनस्याशयःसम्प्रकाशते। तस्माद् विभागन्तरजातेऽपि पश्चादागतस्य पुत्रस्य समांशो भविष्यत्येवेति नियमः।

अविभाज्यधनानि कानि ?

पितृद्रव्याविरोधेन यदन्यत् स्वयमर्जितम्।
मैत्रमौद्वाहिकञ्चैव दायादानां न तद्भवेत्॥[1]

इति याज्ञवल्क्यकथनाद् मातापित्रोर्द्रव्याविरोधेन मैत्रेण उद्वाहादिना यद्धनं स्वयमर्जितं तत्सर्वमविभाज्यमेवेति। यथाहि—

शौर्यभार्य्याधने हित्वा यच्च विद्याधनं भवेत्।
त्रीण्येतान्यविभाज्यानि प्रसादो यच्च पैतृकः॥[2]

एतस्माद्युद्ध-भार्या-विद्यार्जितधनानामप्यविभाज्यत्वं सुस्पष्टं प्रतीयते। एतत्सर्वमनुपघ्नन् पितृद्रव्यमिति[3] मनुवचनमपि तमुपस्थापयति। पितृ-द्रव्याविरोधेन स्वकीयश्रमेणोपार्जितधनविषयम्।

विभागात्पूर्वं वस्त्रवाहनालङ्कारादिर्यो येन धार्यते स तस्यैव भवति, तदन्यैर्न विभक्तव्यम्। ततो निखिलम् अधिकन्तु विभाज्यमेव। जीवति पत्यौ स्त्रिभिर्धृता अलंकारा अविभाज्याः स्मर्यन्ते। तत्र यो यया धृतः स तस्या एव भवति। पितृधृतवस्त्रादीनि तु पितरि प्रेते श्राद्धभोक्ते देयानि। द्रव्याणि विषमाणि चेद् विभागेऽधिकं ज्येष्ठस्येति निर्णयः। स्त्रियो दास्यादयश्च विषमाश्चेत् पर्य्यायेन कर्म कारयितव्याः।

गृहारामादिषु प्रवेशनिर्गममार्गा अविभाज्याः "योगक्षेमप्रचारञ्च न विभाज्यं प्रचक्षते"[4] इति मनुवचनमेव प्रमाणम्। कृतान्नम् (ओदना-दिकम्) उदकं (कूपजलाशायादिकं) चाविभाज्ये भवतः। नास्त्यत्र कश्चिद्भागाधिकारः।

---

१. याज्ञवल्क्यस्मृतौ—२.११८ २. नारदस्मृतौ—१३.६
३. मनुस्मृतौ—९.२०८ ४. मनुस्मृतौ—९.२१९

"भर्त्रा प्रीतेन यद्दत्तमिति" नारदवचनात् स्थावरे तद्दृते सर्वं प्रीति-प्रसादादिधनं भर्त्रा पित्रादिना दत्तमविभाज्यं भवति ।

पूर्वं क्रमागतं भूम्यादिकं पूर्वैर्नष्टं यदि कश्चनोद्धरति, तर्हि उद्धर्त्रे चतुर्थांशमुद्धारफलं दत्त्वावशिष्टं सर्वे समं विभजेरनिति स्थितिरित्यत्र विज्ञानेश्वरजीमूतवाहनमित्रमिश्राणामैकमत्यम् । अतः जीर्णोद्धारसम्बन्धिनि वस्तुनि उद्धर्त्तुरेव चतुर्थांशाधिकेन प्रदीयते ।

जीमूतवाहनस्तु यदि साधारणीभूतं धनं व्ययीकृत्य कश्चन किञ्चिद्धन-मर्जयति तर्हि तत्र भ्रातॄणामितरेषां भागो भवत्येव तत्र यस्य यावतोंऽशस्य स्वल्पस्य महतो वोपघातस्तस्य तदनुसारेण भागकल्पना वेदितव्या । तत्र पुनरर्जयितुरंशद्वयमन्येषां स्वभागानुसारमिति स्मर्यते । एतेन तज्जकत्वेना-र्जकस्यांशद्वयमधिकन्तथा समांशमपि तेभ्यः दीयते ।

साधारणं समाश्रित्य यत् किञ्चिद् वाहनायुधम् ।
शौर्यादिनाप्नोति धनं भ्रातरस्तत्र भागिनः ॥
तत्र भागद्वयं देयं शेषास्तु समभागिनः ।

इति व्यासवचनमपि तत्प्रतिपादयति । साधारणं द्रव्यं व्ययीकृत्याप्य-र्जिते विद्याधने विद्यानुपालितानां यवीयसां भ्रातॄणां भागो भवति । नाऽविद्यापालितानामिति विशेषो नियमः । पित्रार्जितेऽविदुषामधिकारो ज्येष्ठार्जिते पुनर्विदुषामित्ययं भेद इति जीमूतवाहनसिद्धान्तः ।

विभागेऽनधिकारिणः

क्लीबोऽथ पतितस्तज्जः पङ्गुरुन्मत्तको जडः ।
अन्धोऽचिकित्स्यरोगाद्या भर्त्तव्याःस्युर्निरंशकाः ॥[1]

इत्युक्तत्वात् क्लीब-पतित-पतितोत्पन्न-पङ्गून्मत्तजडान्धाऽचिकित्स-नीयव्याधिपीड़ितानां श्रमान्तरगतानां पितृद्वेष्युपपातकिनामौरसत्वेऽप्यंश-भाक्त्वं न भवतीति वशिष्ठ-नारदवचनाभ्याञ्च प्रतिपादितं विद्यते ।

अनंशौ क्लीबपतितौ जात्यन्धवधिरौ तथा ।
उन्मत्तकजडमूकाश्च ये केचिन्निरिन्द्रियाः ॥[2]

इति मनूक्तेर्जात्यन्धवधिराणामप्यंशित्वमुच्यते । एते क्लीबादयो ग्रासाच्छादनदानेन यावज्जीवनं पोषणीयाः इत्याभरणे प्रत्यवायापत्तेः ।[3]

१. याज्ञवल्क्यस्मृतौ–२.१४०, २. मनुस्मृतौ–९.२०१, ३. मनुस्मृतौ–९.२०२

विभागात्प्रागेतेषां दोषप्राप्तावनंशित्त्वं न तु विभागानन्तरम्। विभाग-नन्तरमप्यौषधिसेवनादिना क्लीबत्वादिदोषापनयने भागप्राप्तिरस्त्येव।

एतेषां क्लीबादीनामौरसाः क्षेत्रजा वा पुत्राः निर्दोषाश्चेद् धनहारिणो भवन्ति। क्लीबस्य क्षेत्रजपुत्रोऽन्येषां औरसाः पुत्रा इत्यनेन तदतिरिक्तानां दत्तकादीनामप्यनंशमंशित्वमुक्तं भवति। तेषां दुहितरश्च संस्कर्त्तव्यास्तद-वधि च भरणीया। एषामपुत्राः स्त्रियः साधुवृत्तयश्चेद्भर्त्तृव्याः अन्यथा व्यभिचारिण्यो निर्वास्या भवन्तीति विज्ञानेश्वरः। अक्रमोढासुतश्चैव सगो-त्राद् यस्तु जायते। सोऽपि तथात्त्वं भजाति।

प्रव्रज्यावसितश्चैव न रिक्थं तेषु चार्हति इति कात्यायनोक्ते हीनवर्णस्त्रीपरिणयानन्तरमुत्तमवर्णस्त्रीपरिणयने द्वयोरप्यक्रमोढत्वमिति प्रतिपाद्यं तेषामक्रमोढापुत्राणां दायेऽनधिकारितां प्रतिपादयति। अक्रमोढा-यामपि सवर्णेन परिणयेऽत्रोत्पादितः पुत्रः क्रमोढायामसवर्णजातोऽपि धनाधिकारी भवतीति जीमूतवाहनः।

मित्रमिश्रस्तु क्लीबादीनामनधिकारित्वं प्रदर्श्य पतितोपपातकिनोः प्रायश्चित्तं यावदनंशित्वमुदीरयति। औद्धत्यादिना प्रायश्चित्तमकुर्वतस्तु निपतनमेव। एतेषां विभागात् प्रागेव दोषसत्वेऽनंशित्वं पुनर्विभागोत्तरं प्राप्तस्य भागस्योच्छेदः।

श्रौतस्मार्तकर्मत्यागिनां विक्रमस्थानानामपि विभागेऽनधिकारितां प्रतिपादयति मित्रमिश्रः।

विभागकाले निह्नुतस्य पश्चादागतस्य विभागः

परस्परापहृतं समुदायधनं विभागकाले पितृधने विभक्ते सति चाज्ञातं यदि किञ्चिद् दृश्यते तर्हि तद्धनं सर्वे भ्रातरो विशोद्धारादिव्यवस्थामन्तरेण समं विभजेरन्। अतो निह्नुतं धनं येन दृष्टं स एव तत्सकलं न गृह्णीयात्। किन्तु सर्वे विभज्य समं गृह्णीयुः। अत्र याज्ञवल्क्यवचनमेव प्रमाणम्—तत् पुनस्ते समैरंशैर्विभजेरन्निति।[1]

मनुरपि विभागव्यवस्थामिमामुदीरयति—

---

१. याज्ञवल्क्यस्मृतौ—२.१२६

यो ज्येष्ठो विनिकुर्वीत लोभाद् भ्रातॄन् यवीयसः।
सोऽज्येष्ठः स्यादभागश्च नियन्तव्यश्च राजभिः॥[1]

एतेन साधारणधनापह्नवे पितृस्थानीयस्य ज्येष्ठस्य न केवलं दोष उक्तः, अपितु भागमपाकुर्वतां कनीयसामपि भ्रातॄणां दोषः सुतरां प्रभवति। पुनश्च सादृश्याद् भ्रमवशादजानतो वा यदि कश्चन साधारणधनं स्वकीयमिति विज्ञाय गृह्णाति तत्र दोषो भवति, किमुत ज्ञायत इति वदता विज्ञानेश्वरेण साधारणद्रव्यापहारे दोषं दर्शयता सर्वेषां भ्रातॄणां समांशभागः प्रतिपादितः।

ऋणे धने च सर्वस्मिन् प्रविभक्तं यथाविधिः।
पश्चाद् दृश्यते यत् किञ्चित्तत् सर्वं समतां नये॥[2]

तस्मादत्र न तत्रापहर्त्तुरल्पभागोऽभागो वेति जीमूतवाहनः। तत्र सनपदेन पूर्वं यथा ज्येष्ठादीनां विंशोद्धारादिव्यवस्थया विभागो जायते स्म तदापि तत्र तथैव विभागः कार्य इति जीमूतवाहनस्याभिप्रायं फलति।

भ्रातॄणां साधारणधननिह्नवे स्तेयप्रायश्चित्तं राजदण्डश्च भवतीति मिश्रमिश्रोक्तिः राद्धान्तितः।

विभागसन्देहे निर्णयहेतुः

विभागस्यापलापे सन्देहे समुत्पन्ने ज्ञातिभिः पितृबन्धुभिर्मातृबन्धुभिर्मातुलादिभिः साक्षिभिर्लेख्यादिभिश्च विभागपत्रेण विभागनिर्णयः कार्यः।

विभागधर्मसन्देहे दायदानां विनिर्णयः।
ज्ञातिभिर्भागलेख्येन पृथक् कार्यनुवर्तनात्॥
भ्रातॄणामविभक्तानामेको धर्मः प्रवर्तते।
विभागे सति धर्मोऽपि भवेत्तेषां पृथक् पृथक्॥[3]

अपि च नारदेनैव तत्र विभागसन्देहे निर्णयममुपस्थापने युक्तिः प्रदर्शिता।

साक्षित्वं प्रतिभाव्यञ्च दानं ग्रहणमेव च।
विभक्ता भ्रातरः कुर्युर्नाविभक्ताः कथञ्चनः॥[4]

---

१. मनुस्मृतौ—९.२१३

२. मनुस्मृतौ—९.२१८

३. नारदस्मृतौ—१३.३७—३९

४. नारदस्मृतौ—१३.४८

एतेन लिङ्गादिभिरपह्नुतस्य विभागनिर्णयः कर्त्तव्य इति विज्ञानेश्वरः।

विभागनिर्णये साक्षिषु प्रथमं ज्ञातयः सपिण्डाः साक्षिणो भवन्ति। तदभावे बन्धुपदोपनीताः सम्बन्धिनः। तदभावे उदासीना अपि साक्षिणो भवन्ति हि।

सत्यपि लिखिते प्रमाणे साक्षिभ्यस्तस्य बलवत्त्वात्तेनैव निर्णयो जायते। लिखित-साक्षिणामभावेऽनुमानेनैव निर्णयः कर्त्तव्य इति जीमूतवाहनः।

अनुमानेनाप्यनिर्णये दिव्यैः शपथैश्च विषयाल्पभूयस्त्वादनुसारेण निर्णयः स्यादिति मित्रमिश्रः।

सर्वथा विभागनिर्णयप्रमाणाभावे पुनर्विभागः कार्यः। यथाहि—

विभागे यत्र सन्देहो दायदानां परस्परम्।
पुनर्विभागः कर्त्तव्यः पृथक् स्थानस्थितैरपि॥

इति मनुवचनमुद्धृत्य मित्रमिश्रोक्तिः संगच्छते। तेन विभागे सन्देहे सति पुनः पुनः विभागश्चेति शास्त्रविधिः। कालान्तरेणापि तन्निर्णयः पुनः करणीयः इत्यपि सर्वैरङ्गीक्रियते।

•

उपसंहारः

अघटन-पटना पटयसोर्जगदीश्वरस्येतस्यां महत्यां सृष्टौ न हि सर्वे जनाः एकत्र निवसितुमर्हन्ति। अतो विभागस्यावश्यकता नितरामुद्भवति। तस्य प्रशंसापि "पृथक् विवर्तते धर्मस्तस्माद्धर्मा पृथक् क्रियेति[1] धर्म्य-पदोपादानोपस्थापनेन मनुना कृता। तस्मादेव दायभागस्य महत्त्वमुपतिष्ठत एव।

"विभागोऽर्थस्य पित्र्यस्ये"त्यादिना नारदेन[2] दायभागस्य लक्षणं लक्षितम्। तत्रायम्भावोऽभिव्यञ्ज्यते—

पित्रादिधनानां पुत्रादिभिर्यो विभागः स एव दायभागपदेनोच्यते।

दायग्रहणे मुख्यतो द्विधा विभेदः। तत्रैकेन विज्ञानेश्वरादिभिरुपात्तोऽधिकारः। परतो जीमूतवाहनमते पित्रादिधने पुत्रादीनामधिकारः। अपरञ्च वीरमित्रोदये मित्रमिश्रेणोपात्तस्य विभागस्याख्यानमवलोक्यते।

तत्र परम्परायां विज्ञानेश्वरः (ई० १०७०–१११५) जातः। जीमूतवाहनः (ई० १०८०–११८०) जातः, मित्रमिश्रश्च (ई० १६१०–१६४०) जात इति समुपलभ्यते।

इतोऽन्यत् केचन दायभागस्य लब्धप्रतिष्ठकाः निबन्धारः स्मयन्ते। तेषामाख्यानमत्र नामकृतिकालसमन्वयेनाधोलिखिततालिकया व्याक्रियते।

---

१. मनुस्मृतिः ९.१११

२. नारदस्मृति १३.१

निबन्धकर्त्तृणान्नामानि	कृतयः	कालनिर्देशः
अनन्तरामः	स्वत्त्वरहस्यम्	षोडशशतके
श्रीकृष्णतर्कालंकारः	दायदीपः जीमूतवाहनकृतदायभागटीका	अष्टदशशतकमध्ये
पीताम्बरसिद्धान्तवागीशः	दायकौमुदी	१६०४ खीष्टाब्दे
रघुनन्दनः	दायभागतत्त्वम्	१५१०-१५८० मध्ये खीष्टाब्दे
गोपालपञ्चाननः	दायनिर्णयः	१५७०-१६२० खीष्टाब्दे मध्ये
श्री शंकर शर्मा	दायनिर्णयः	१६७८ खीष्टाब्दे
अच्युतचक्रवर्त्तिः	दायभागसिद्धान्तकुमुदचन्द्रिका (दायभाग टीका)	१५००-१५५० खीष्टाब्दे मध्ये
बरदराजः	दायभागनिर्णयः	१८०० शतके
जगन्नाथः	विवादभङ्गार्णवसेतुः	१८०० शतके
मोहनचन्द्र विद्यावाचस्पतिः	दायभागकारिका	१६५७ खीष्टाब्दे
कामदेवः	दायभागविनिर्णयः	१५००-१६६० खीष्टाब्दे मध्ये
श्रीकरः	दायभागनिर्णयः	१४७५-१५०० खीष्टाब्दे मध्ये
रामनाथ विद्यावाचस्पतिः	दायभागविवेकः	१६५७ खीष्टाब्दे
सार्वभौमः	दायभागव्यवस्था	१५८८ खीष्टाब्दे

निबन्धकर्त्तृणान्नामानि	कृतयः	कालनिर्देशः
बलभद्रतर्क वागीशः	दायभागसिद्धान्तः	पञ्चदशशतके
रघुरामः	दायभागार्थदीपिका पद्यावली	अष्टदशशतके
रामनाथः	दायरहस्यम्	सप्तदशशतके
श्रीनाथ आचार्य चूडामणिः	दायभागटीका	१४७०-१५४० खीष्टाब्दे मध्ये
रामभद्रनारायणालंकार भट्टाचार्यः	दायभागटीका	१५४०-१५७० खीष्टाब्दे मध्ये

एवं रीत्या दायभागप्रणेतृणां नामानि संज्ञातानि सन्ति। अत्र विस्तरेण विवेचनन्न क्रियते, यतो ह्यत्र तेषां समेषां प्रमाणोपलब्धेरभावात्। धर्मशास्त्रस्येतिहासस्तथा चान्येषां ग्रन्थानामाधारेण यत्किञ्चिदुपलभ्यते तत्सर्वं यथा निर्दिष्टं समालोच्यात्र स्फुटीकृतं विद्यते। ये च सुधियो विशेषरुचयः सन्ति ते त्वत्र परामर्शपूर्वकं विविधमूलग्रन्थानामावलोकनं कुर्वन्तु।

परिशिष्टम्

विज्ञानेश्वरः (१०७०—१११५ ख्रीष्टाब्दमध्ये)

याज्ञवल्क्यस्मृतेः टीकाकाराः विश्वरूपापरादित्यशूलपाणिमित्रमिश्रप्रभृतयः सन्ति तथापि विज्ञानेश्वरकृता मिताक्षरा सर्वोच्चस्थानसमधिकरोति। प्रमाणञ्चात्र धर्मशास्त्रनिबन्धमाला, तत्र विज्ञानेश्वरकृतं मतं विद्वद्भिः प्रमाणत्वेन परिगृह्यते। तत्रापि व्यवहारकाण्डे व्याख्यातं दायभागपदं सम्पूर्णभारतेऽद्यापि शासनेनाधिक्रियते। तन्मतं केवलं बङ्गप्रान्ते (बंगालदेशे) जीमूतवाहनेन निराकृतमिति समुपलभ्यते।

इयं मिताक्षरा न केवलं प्रसिद्धयाज्ञवल्क्यस्मृतेः टीकाभूताऽपितु स्मृतिशास्त्राणामनेकेषां सारसंग्रहभूताऽभिवर्तते। तदीया विषयव्यवस्थापि मिमांसाशास्त्रपरिशीलनेन परमतखण्डनस्वमतस्थापनपूर्विका तात्त्विकविवेचनसंयुता विविधधर्मशास्त्रनिबन्धसमर्थिता प्रामाणिकी चास्तीति मन्ये।

मिताक्षरायामङ्गिरादिप्रभृतीनामशीत्यधिकस्मृतिकर्त्तॄणानां नामान्युपलभ्यन्ते। तेषु दायभागप्रकरणे याज्ञवल्क्य-नारद-गौतम-मनु-वृद्धमनु-बृहन्मनु-शंखा-पस्तम्ब-बृहस्पति-वृद्धबृहस्पति-विष्णु वृद्धविष्णु-हारीत-कात्यायन-लौङ्गाक्ष्यु-शनो-त्रशिष्ठ-धारेश्वर-त्रिकाण्ड-मण्डन-जैमिनिप्रभृतीनां नामान्यापि सादरेणोल्लिखितानि विद्यन्ते।

विज्ञानेश्वरः पद्मनाभभट्टस्य सुपुत्रो। भरद्वाजगोत्रीयस्य उत्तमस्य शिष्यः परमहंसोपाधियुक्त आसीत्। मिताक्षरालेखनावसरे कल्याणनगरे विक्रमादित्य नामा कश्चन राजाऽऽसीत्।[1]

मिताक्षराकारो विज्ञानेश्वरः पूर्वमिमांसाविज्ञो महान् पण्डित आसीत्। यतो हि कृत्स्नायां मिताक्षरायां मिमांसाविचारोऽवलोक्यते। तेनैव तत्प्रमाणीभवति।

---

१. नासीदस्ति भविष्यति क्षितितले कल्याणकल्पं पुरम्।
नो दृष्टः श्रुत एव वा क्षतिपतिः श्रीविक्रमार्कोपमः॥
विज्ञानेश्वरपण्डितो न भजते किं नान्यदन्योपम।
श्वकल्पं स्थिरमस्तु कल्पलतिकाकल्पं तदेतत्त्रयम्॥ मिताक्षरा

विज्ञानेश्वरो बहूनि वचनानि मन्वादिवचनत्वेन मिताक्षरायामुपस्थापयति, परन्तु तानि वचनानि निर्दिष्टेषु समुपलब्धेष्वद्यतनग्रन्थेषु नैवावलोक्यते। स्वत्त्वप्रतिपादनकाले 'ये जाता येऽप्यजाता'श्चेति मनुवचनम्, 'उत्पत्त्यैवार्थस्वामित्व'मित्यादिगौतमवचनमूपलब्धमानमनुगौतमयोः ग्रन्थेषु नोपलभ्यते। परन्तु मतस्यास्य प्रबलविरोधमाचरता जीमूतवाहनेनाप्येतयोर्वचनयोर्निमूलता नैव प्रतिपादिता।

अस्य विज्ञानेश्वरस्य कालनिरूपणमतीव दुस्तरं प्रतीयते। तथाप्ययं विश्वरूपमेधातिथिधारेश्वरादीनां नामानि निर्दिशति। तेन मिताक्षरारचनाकालः (१०५०) ख्रीष्टाब्दानन्तरमेव प्रतीयते। डॉ० पी० वी० काणे मतानुसारं ११००–११२० ख्रीष्टाब्दमध्ये मिताक्षरा सम्पूर्णाऽभवत्। विज्ञानेश्वरचालुक्यवंशीय विक्रमादित्यसमकालिक इति कृत्वा तस्यापि कालः १०७६–११७४ ख्रीष्टाब्दमध्ये ह्यनुमीयते।

मिताक्षरां विहाय विज्ञानेश्वरेण 'अशौचदशकम्' नामदशश्लोकात्मको ग्रन्थः शार्दूलविक्रीडितच्छन्दसा विलिखितः। तस्य टीका हरिहरेण कृता।[1] अपि चानेन त्रीशंत्श्लोकीनाम्नो ग्रन्थस्य भाष्यं कृतमिति तत्पुष्पिकातो ज्ञायते।

विज्ञानेश्वरः टीकायाः वृथा विस्तरं न कुत्रापि करोति, अत्यल्पैः शब्दैर्महतोऽभिप्रायस्य प्रकाशनमस्य रचनायाः वैशिष्टयम्। 'प्रमिताक्षरापि विपुलार्थवती परिषिञ्चति श्रवणयोरमृत'मिति ग्रन्थान्ते तैः संसूचितम्!

1. History of the Dharmsastra. P. 15

जीमूतवाहनः
(१०८०–११८० ख्रीष्टाब्दमध्ये)

वङ्गीयधर्मशास्त्रनिबन्धकारेषु मूर्द्धन्यभूतो जीमूतवाहनः । एदुमिश्रेणोल्लिखितं स्वकृतकुलकारिकायां यज्जीमूतवाहनो विश्वक्सेननामधेयस्य बङ्गराजस्य शासनन्यायालये प्राड्विवाक आसीत् यो हि आदिशूरानीतेषु पञ्चब्राह्मणेष्वन्यतमस्य नारायणभट्टस्य नवमपुरुषीयो भवतीति काणे महादयैर्धर्मशास्त्रेतिहासग्रन्थे प्रदर्शितम् । स चायं पारिभद्रकुलसम्भूत आसीदिति स्वकृतदायभागस्य पुष्पिकातो विज्ञायते ।

जीमूतवाहनस्य कालविनिर्णये बहुविसंवादाः समुद्भवन्ति । यतो धारेश्वरगोविन्दराजभोजदेवादीनां नामानि तेनोट्टङ्कितानि यस्मात्स कदाप्येकादशशतकस्यान्तिमभागात् पूर्ववर्ती न भवितुमर्हति ।

अपि च तस्य नाम्नः शूलपाणिवाचस्पतिमिश्र-रघुनन्दनादिभिरुल्लिखितत्वात् पञ्चदशशतकस्य मध्यभागादनन्तरवर्त्यपि भवितुन्नार्हति ।

पुनश्च कालविवेके कश्चन गणितिको[1] जीमूतवाहनो ज्योतिषतथ्यमुद्भावयति येन तस्य कालः १०१३ शकाब्दात् (१०९३ ख्रीष्टाब्दात्) पूर्वन्न भवितुमर्हति । अतोऽस्मात् ज्ञायते यज्जीमूतवाहनस्य ग्रन्थलेखनकालः १०९१ ख्रीष्टाब्दत आरभ्य ११३० ख्रीष्टाब्दमध्ये भवेदिति डॉ० पी० वी० काणेमहोदयानां मतमुपलभ्यते ।

जीमूतवाहनस्य प्रथमः ग्रन्थः कालविवेकस्तदनन्तरं व्यवहारमातृका ततो दायभाग इति क्रमेण ग्रन्थानां लेखनक्रमः वक्तुं युज्यते । ग्रन्थत्रयमपहाय ऋणादानविषयकं कश्चन ग्रन्थविशेषो लिखितुं दायभागे तेन प्रतिज्ञातम् । परन्तु ग्रन्थोऽयं प्रायशो नोपलभ्यते । वस्तुतस्तु जीमूतवाहनेन कालविवेकादिग्रन्थचतुष्टयमुल्लिखितं किन्तु तेषु कालविवेकः स्वतन्त्रो ग्रन्थः अन्यत्त्रयं धर्मरत्ननाम्नो मुख्यग्रन्थस्यांशविशेषाः सन्ति ।

---

१. ननु सूर्यचन्द्रमसोर्भिन्नराशिस्थत्वेऽप्यमावस्या दृश्यते । तथा च चतुर्दशोत्तरसहस्रशकवत्सरे सिंहस्थे रवौ द्वित्रिदण्डान् चतुर्दशीपरतोऽश्लेषानक्षत्रं सप्तदण्डान् परतो मघा, तेनाश्लेषासमयेऽमावस्यायां कर्कटे चन्द्रः सिंहे चादित्यः ।

कालविवेकः पृष्ठ—२१

बङ्गदेशियानां कृते हिन्दू-आईना-शास्त्रमध्ये तत्प्रणीतो दायभाग एवाद्रियते। जीमूतवाहनो मनु-नारद-याज्ञवल्क्य-बृहस्पति-बृहन्मनु-व्यास-शंख-लिखित-देवल-यमो-शनस्-वृद्धकात्यायना-पस्तम्ब-बृद्धशातातप-पैठीनसि प्रभृतिस्मृतिकर्त्तृणां नामानि दायभागे विज्ञापयति। तत्र निबन्धकर्त्तृणां मध्ये जितेन्द्रियमेधातिथि-गोविन्दराज-धारेश्वर-श्रीकर-भोजराज दीक्षित बालकविश्वरूपप्रभृतीनां नामानि समुपलभ्यन्ते।

जीमूतवाहनः स्वमतानुकूलानां प्राच्यनिबन्धकर्त्तृणां वचांसि समादरति। यथाहि—गोविन्दराज-विश्वरूपजितेन्द्रियैर्यदुक्तं तदाद्रियते, तदेव वरमितीत्यादि। प्रतिकूलमतमप्युपेक्षते यत्तु बालकेनोक्तं यत्तुबालक-वचनमित्यादिना।

जीमूतवाहनो विज्ञानेश्वरस्य मिताक्षराया वा नामग्राहमन्तरेण तन्मतम् इति केचित् इत्यन्ये, इति हेयमिति चिन्त्यम्, अयमनाकर इत्यादि शब्दैराक्षिपति।

कुत्रचिज्जीमूतवाहनो "निरवद्यविद्याद्योतेन द्योतितोऽयमर्थः"[1] इत्यादि वचनेन निरवद्यविद्याद्योतनाम्ना कश्चिन्निबन्धकारमात्मानं वा परामृशति तत्र वक्तुं पार्य्यते इति डॉ० पी० वी० काणे महोदयोनोक्तमुपलभ्यते। वस्तुतस्तु जीमूतवाहनोऽत्रात्मानमेव निरवद्यविद्याद्योतमित्युल्लिख्यात्म-श्लाघां दर्शयति। उद्ग्राहमल्लस्य देवलवचनं गलहस्त[2] इत्यत्रापि उद्ग्राह-मल्लनाम्ना कश्चिन्निबन्धकारो भवेदिति तैः शङ्क्यते, परन्त्वत्र उद्ग्राहो वादस्तदुपरि मल्लशब्दस्यारोपः कृत एव दृश्यते।

दायभागस्योपरि बह्व्यष्टीका. विद्यन्ते। तासु रघुनन्दनभट्टाचार्यस्यापि टीका वर्तते। जीमूतवाहनस्य दायभागे प्रायेण परमतखण्डनेऽधिकाभिरुचि-र्दृश्यते "मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते" इति वचनात् मनु-विरुद्धानि वचनानि प्रमाणत्वेनोपस्थापयतामाचार्याणां मतमुपेक्षते। दाया-ग्रहक्रमनिरूपणे पिण्डदातृत्वमेव धनग्रहणे कारणमिति प्रादर्श्य तद्विरुद्धानि पूर्वमतानि निरस्यति। एवञ्च जीमूतवाहनस्यात्मनो गौरवमत्र दायभागे विशिष्टतमं स्थानं लभते इति वक्तुं शक्यते।

●

---

१. दायभागे पृष्ठ—२.९

२. दायभागे—४.२-६

मित्रमिश्रः

(ई० १६१०–१६४०)

परशुराममिश्रस्य पुत्रो मित्रमिश्रो हंसपण्डितः पौत्रो गोपाचल—(ग्वालियर) वास्तव्यस्य वीरसिंहनरेशस्य[1] सभापण्डित आसीत्। स तु गौड़ब्राह्मणः। तस्य द्वौ ज्येष्ठभ्रातरौ वीरेश्वरचक्रपाणिनामानावास्ताम्। एकश्च कनीयान् भ्राता योगादित्य इति नाम्ना, सुनीतिनाम्नी चैका भगिन्यप्यासीत्।

सोऽयं मित्रमिश्रो राज्ञो वीरसिंहस्य शासनकाले तस्यादेशेन[2] धर्मशास्त्रस्य सर्वान् विभागानधिकृत्य ग्रन्थमेकं रचितवान्। तस्य नाम नृपस्य नामानुसारेण वीरमित्रोदय इति ख्यातोऽभूत्। आनन्दकन्दचम्पोः प्रस्तावनातो ज्ञायते यत् शाकेसाष्टगजर्तुभूपरिमिते[3] काले मित्रमिश्रस्तं

---

१. इति श्रीमत्सकलसामन्तचक्रचूडामणिमज्जरीधिमज्जरीनीराजितचरणकमल-श्रीमहाराजाधिराजप्रतापरुद्रतनुज-श्रीमन्महाराजमधुकरशाहसूनु - श्रीमहाराजाधिराज चतुरुदधिवलयवसुन्धरा-हृदयपुण्डरीक विकाशदिनकर श्रीवीरसिंह देवोद्योदित-श्रीहंसपण्डितात्मज-श्री परशुराममिश्रसूनुसकलविद्या पारावारीण-धुरीणजगद्दारिद्रच - महागजयारीन्द्र - विद्वज्जनजीवातु श्रीमन्मित्रमिश्रकृते वीरमित्रोदयाभिधाननिबन्धे व्यवहारप्रकाशे।

Vide Pogosn's History of Fondelas P. 10-11.

२. वित्तं मत्त्वाप्यसारा वितरदबिरतं याज्ञवल्क्योक्तमुक्त्वा।
बारं स्मृत्यर्थसारं रचयितुमथ स प्रादिशन् मित्रमिश्रम्॥

मिताक्षरायाम्—पृष्ठ ३'१७

३. अष्ट = ८ संख्यायाः बोधो भवति।
गजः = ८ ,, ,, ,,
ऋतुः = ६ ,, ,, ,,
भूः = १ ,, ,, ,,

चम्पूं पूरितवान् । अतोऽष्टवेदनाष्टसंख्यायाः राजपदेनापि तदेव, ऋतुपदेन षट् संख्यायाः भूपदेनैकसंख्यायाः अङ्कानां वामतो गतिरिति नियमाद् बोधो जायते ।[1] १६८८ संख्ये शकाब्दे १७६६ खीष्टाब्दे मित्रमिश्रः कृतिमिमां पूरितवान् । अतः १७६६ खीष्टाब्दे सो जीवित आसीदिति परिज्ञायते । अतः डॉ० पी० वी०[2] काणेमहोदयाः मित्रमिश्रस्य कालः १६०५–१६२७ खीष्टाब्दे मध्ये स्यादिति यदुक्तवन्तस्तत् कथं ग्रहीतुं शक्यते ?

मित्रमिश्रग्रन्थेषु वाचस्पतिमिश्रस्य रघुनन्दनस्य च नामोल्लेखो दृश्यते । अतस्तयोरयमर्वाचीन एव । कमलाकर-नीलकण्ठयोर्नामोत्थापनेनानेन कृतमिति कृत्वा तौ द्वावेव तस्य समकालिकावित्यनुमीयते । अतोऽस्य कालः १६१०–१६४० ईशवीयमध्ये भवितुमर्हतीति वक्तुं युज्यते ।

वीरमित्रोदयाभिधानेग्रन्थे धर्मशास्त्रसंबलिताः द्वादशप्रकाशाः प्रकाशिताः । वीरमित्रोदयस्य कर्त्ता मित्रमिश्र एव सर्वैरङ्गीक्रियते ।

तत्र वीरमित्रोदये-परिभाषाप्रकाशं-संस्कारप्रकाश-आह्निकप्रकाश-पूजाप्रकाश-लक्षणप्रकाश-राजनीतिप्रकाश-तीर्थप्रकाश -व्यवहारप्रकाश-श्राद्धप्रकाश-समयप्रकाश-भक्तिप्रकाश-शुद्धिप्रकाशश्चेति द्वादशप्रकाशाः विद्यन्ते । एतान् विहायान्येऽपि दश प्रकाशा अप्रकाशिता वर्तन्ते । ते च प्रतिष्ठाप्रकाश-व्रतप्रकाश - ज्योतिःप्रकाश - शान्तिप्रकाश - कर्मविकासप्रकाश - दानप्रकाश-चिकित्साप्रकाशः-प्रायश्चित्तप्रकाश-मोक्षप्रकाश-प्रकीर्णप्रकाशश्चेति । एतेषु प्रकाशेषु व्यवहारप्रकाशो वैदुष्यपूर्णो वर्तते । तत्रापि दायभागस्य महत्त्वं विशेषत्वञ्च सर्वथा स्वीक्रियते ।

तस्मिन् दायभागप्रकरणे देवलभट्ट-मदनरत्नधारेश्वरविज्ञानेश्वर-जीमूतवाहन-रघुनन्दन-पार्थसारथि - मेधातिथि - कल्पतरु-हलायुधचण्डेश्वर-श्रीकर - जितेन्द्रिय - हरदत्तदेवस्वामि - देवशत - मदनपारिजात वाचस्पति विद्यारण्यश्रीचरण-विश्वरूपादीनां निबन्धकर्तृणां नामानि मित्रमिश्रेणोल्लिखितानि । अत एतेभ्यो निबन्धकर्तृभ्योऽयमवश्यं परवर्तीति परिज्ञायते ।

---

१. शाके साष्टगजतुर्भूपरिमिते ह्यानन्दकन्दोभिधाम् ।
चम्पूं पूरितवान् सितस्मरतिथौ श्रीमित्रमिश्र कृतिरिति ॥

आनन्दकन्दचम्पू-प्रस्तावनायाम् पृ० ७ ।

2. History of Dharmsastra by P. V. Kanea p. 948.

मित्रमिश्रो दायभागे मुख्यतो जीमूतवाहनमतानि निरस्य विज्ञानेश्वर-मतान्येवोपन्यस्यति। प्रायशो यत्र जीमूतवाहनेन मिताक्षरामतं खण्डितन्तत्रैव स बहुयुक्तिप्रतिपादनपुरःसरं जोमूतवाहनमतं खंड्य विज्ञानेश्वर-मतमेव स्वकीयमतरूपेण प्रतिपादयति। प्रतिपादनञ्च दार्शनिकशैल्या विलोक्यते। अद्यापि स्वमतस्थापनापेक्षया परमतखण्डनेऽभिरुचिर्दृश्यते जनानां विदुषाम्।

अयं धर्मशास्त्रीयो लघुकायग्रन्थः श्रीमत्पण्डितरामदासपाण्डेयस्यात्मजः श्रीगयादत्तपाण्डेयः, तस्य सुपुत्रेण श्रीबदरीनारायण पाण्डेयेन संवत् २०३३ सन् १९७६ ईशवीये वर्षे परीक्षामुखेन विलिखितः।

इति शम्

हमारे प्रमुख प्रकाशन